वर्ष 7, अंक 1 जनवरी 1991

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक
यशदेव शल्य

सहयोगी
गोविन्दचन्द्र पांडे, दयाकृष्ण
राजेन्द्रप्रसाद पांडेय, रमेशचन्द्र शाह

दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर

"एथिक्स और इकनौमिक्स" : एक टिप्पणी

गोविन्दचन्द्र पांडे

इस विषय पर प्रो.अमर्त्य कुमार सेन के बर्कले में 1986 में दिये "रौयर व्याख्यान" बहुचर्चित हैं ।[1] अर्थशास्त्री अथवा आचारशास्त्री न होते हुए भी प्रस्तुत लेखक प्रो. सेन और उनके द्वारा चुने हुए विषय के महत्त्व के कारण उनकी कृति पर एक व्यापक सांस्कृतिक दृष्टि से टिप्पणी करने का साहस कर रहा है ताकि संभवतः विशेषज्ञ उस पर और प्रकाश डालने की चुनौती स्वीकार करें । यह कहा गया है कि एथिक्स[2] और इकनौमिक्स दोनों ही के लिए इन व्याख्यानों ने पारस्परिक सहयोग का मार्ग प्रशस्त किया है । प्रो. सेन यह प्रतिपादित करते हैं कि अर्थशास्त्रीय चिन्तन में हिताहित की परीक्षा नैतिकता की उपेक्षा से अधूरी रह जाती है जैसे कि नैतिकता की मीमांसा अर्थशास्त्र का लाभ उठाकर अधिक व्यावहारिक बन सकती है । टिप्पणी करने के पूर्व उनके प्रतिपादन को संक्षेप में प्रस्तुत करना अनुचित न होगा ।

उनके पहले व्याख्यान का विषय है "आर्थिक व्यवहार और नैतिक भावनाएं" । अर्थशास्त्र के मूलतः दो रूप थे, एक रूप आचार-मीमांसा से जुड़ा था, दूसरा प्रकृत लक्ष्यों के लिए साधन जुटाने से, जिसे "लौजिस्टिक" या "एन्जीनियरिंग" पक्ष कहा गया है । पहला पक्ष अरस्तू में देखा जा सकता है, दूसरा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ।[3] यद्यपि आधुनिक अर्थशास्त्रियों के चिन्तन में दोनों ही पक्ष मिलते हैं, यह निस्सन्देह और खेद की बात है कि आदर्श-निरपेक्ष साधन-नीति के रूप में, पौज़िटिव इकनौमिक्स के रूप में, वर्तमान अर्थशास्त्र का विशेष आग्रह है । इस संदर्भ में रौबिन्स की उक्ति विचारणीय है कि ज्ञान-विधाओं के रूप में एथिक्स और इकनौमिक्स में किसी प्रकार का संबन्ध कल्पनीय नहीं है ।[4]

आधुनिक अर्थशास्त्र की एक मुख्य पूर्वमान्यता यह है कि मानव-व्यवहार युक्तिसंगत है । किन्तु अर्थशास्त्रीय प्रतिपादनों में मनुष्य के दृष्ट व्यवहार को ही उसका

---

1. ओ. यू. पी. द्वारा भारत में प्रकाशित, 1990.
2. 'एथिक्स' के लिए आजकल 'नीतिशास्त्र' शब्द प्रचलित है पर वह 'नीति' शब्द के पारम्परिक प्रयोग के सन्दर्भ में भ्रामक है ।
3. सेन, पृ. 2–7
4. रौबिन्स के प्रसिद्ध निबन्ध से उद्धृत, सेन पृ. 2.

युक्तिसंगत व्यवहार मान लिया जाता है। यह प्रवृत्ति स्पष्ट ही चिन्त्य है यद्यपि यह कहा जा सकता है कि मानवीय व्यवहार में अयुक्तता की किसी विशेष रूप में कल्पना और भी अधिक कठिनाइयों को जन्म देगी।[5]

मानवव्यवहार की युक्तिसंगति उसके दृष्ट रूप में प्रतिबिम्बित होती है, यह मानने पर भी उसके लक्षण बताना आवश्यक है। आधुनिक अर्थशास्त्र युक्तिसंगत व्यवहार के दो मुख्य लक्षण बताता है— (1) व्यावहारिक साधनों के हेयोपादेय निश्चय में आन्तरिक संगति (कन्सिस्टेन्सी ऑव चॉइस), (2) अपने अभीष्ट अर्थों को यथासम्भव अधिकतम रूप में उपलब्ध करना (मैक्सिमाइज़ेशन ऑव सेल्फ-इन्टरेस्ट)। पर आन्तरिक संगति मात्र से व्यावहारिक निश्चय युक्तिसंगत हो जाते हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि युक्तिविपरीत निश्चय भी परस्पर संगत हो सकते हैं। इन निश्चयों की युक्तिसंगति की यह आवश्यक शर्त है कि वे अभीष्ट लक्ष्यों के अनुकूल हों। इस प्रकार की युक्तता को अनुरूपता-विवेक (कॉरेस्पौन्डैन्स रेशनैलिटी) कहा जा सकता है। यह शर्त पर्याप्त भी है कि नहीं, यह इस पर निर्भर करता है कि लक्ष्यों के स्वरूप पर उनकी अपेक्षणीयता, मूल्यवत्ता, प्रयोजनीयता आदि की दृष्टि से विचार कहां तक आवश्यक है। इस दूसरे प्रकार की युक्तता को विचारात्मक विवेक (रिल्फैक्शन रैशनैलिटी) कहा जा सकता है।[6]

वस्तुतः आन्तरिक संगति को आर्थिक व्यवहारगत उपादेयता-निश्चयों की युक्तता (रैशनेलिटी ऑव चॉइस) की कसौटी मानना ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकार के निश्चय परस्पर संगत हैं कि नहीं यह तब तक स्थिर नहीं हो सकता जब तक उन निश्चयों की उनके बाहर किन्हीं विशेषताओं के सन्दर्भ में व्याख्या न की जाए। उपादेयता-वृद्धि के आधार के रूप में जो द्विष्ठ संबन्ध (बाइनरी रिलेशन) माना जाता है वह उपादाता के "उपयोगिता-प्रकार्य" (यूटिलिटी फंक्शन) के रूप में निरूपति किया गया है। किन्तु इसमें भी यह अनिर्दिष्ट रहता है कि उपयोगिता का आधार क्या है।[7]

जहां तक व्यवहार की युक्तिमत्ता को स्वार्थसंधान में देखने की बात है, उसमें यह प्रश्न दुर्वार है कि मनुष्य के लिए स्वार्थसंधान ही क्यों युक्तियुक्त है, परार्थसंधान क्यों नहीं ? प्रयोजनीय अर्थों से परार्थ को हटा देना नैतिकता की अवहेलना प्रतीत होती है। 'सब मनुष्य स्वार्थी हैं', यह मिथ्या या संदिग्ध हो सकता है

5. वही, पृ. 10–12.
6. वही, पृ. 12–14.
7. वही, पृ. 14.

किन्तु सब मनुष्यों की स्वार्थपरता उनकी मतिमत्ता (रैशनेलिटी) की आवश्यक शर्त है, यह निस्सन्देह मिथ्या है । "अर्थशास्त्र की मानक व्यावहारिक मान्यता (अर्थात् प्रकृत स्वार्थ का यथाभूयिष्ठ संपादन) की ओर से लड़ने के लिए मतिमत्ता की मांग का उपयोग करना ऐसा ही है जैसे लंगड़े गधे पर बैठ कर अश्वारोही सैनिकों के आक्रमण का नेतृत्व करना ।"[8] यह सही है कि अर्थशास्त्र में यह प्रायः माना जाता है कि आर्थिक मनुष्य का व्यवहार उसकी स्थार्थबुद्धि से तै होता है । उसकी स्वार्थबुद्धि की निपुणता ही उसकी मतिमत्ता है । स्वार्थबुद्धि ही व्यवहार की मुख्य नियामक है, इस बात को अभी भी सुनिष्णात अर्थशास्त्री ज़ोरदार तौर से कहते हैं । किन्तु इस प्रकार की प्रतिपत्ति की कोई प्रयोगात्मक परीक्षा नहीं हुई है, अतएव उसकी तथ्यता भी संदिग्ध रहती है । इस संदर्भ में यह भी स्मरणीय है कि स्व और पर के विभाजन में अनेक प्रकार की रेखाएं खींची जा सकती हैं । "संस्थात्मक या सामुदायिक स्व" में स्व और पर के भाव संमिश्रित रहते हैं ।[9]

प्रचलित अर्थशास्त्र की मान्यताओं के विषय में दो प्रश्न विचारणीय ठहरते हैं– क्या मानव-व्यवहार स्वभावतः स्वार्थपरक है ? क्या व्यवहार की स्वार्थपरकता उसे सफलता देती है ? अर्थात् क्या नीति का मूल सिद्धान्त यथावत् स्वार्थसंधान है ? इस प्रकार की नीति के प्रतिपादन में एडम स्मिथ की दुहाई दी गयी है । उनका प्रसिद्ध कथन है– "हम अपने भोजन की प्राप्ति की आशा कसाई, कलवार या हलवाई की परोपकारिता से नहीं करते बल्कि उनकी स्वार्थापेक्षा से करते हैं । हम उनको संबोधित करने में उनकी मानवता को नहीं, उनकी आत्मासक्ति (सैल्फ-लव) को संबोधित करते हैं और उनसे उनके लाभ की बात करते हैं, न कि अपनी ज़रूरतों की ।"[10] पर प्रो. सेन एडम स्मिथ की एक नयी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं । अपनी '**नैतिक भावनाओं के सिद्धान्त**' नाम की पुस्तक में स्मिथ प्राज्ञता (प्रूडेन्स) को युक्ति, समझदारी और आत्मनियोग का समन्वय बताते हैं । वे व्यवहार के प्रयोजकों में स्वार्थ, मतिमत्ता और परोपकारी गुणों को स्वीकार करते हैं । उन्हें नितान्त स्वार्थवादी मानना एक भ्रान्ति है ।

दूसरे व्याख्यान में सामाजिक हितपरक अर्थशास्त्र (वेल्फेयर इक्नॉमिक्स) के सन्दर्भ में अर्थशास्त्रीय और आचार-दर्शनात्मक प्रतिपत्तियों की चर्चा है । हितपरक

---

8. वही, पृ. 16
9. वही, पृ. 17–20
10. उद्धृत, वही, पृ. 23

अर्थशास्त्र में स्वार्थपरक व्यवहार और उपयोगितामूलक सामाजिक उपलब्धि का संयोग मिलता है। पर यदि विभिन्न व्यक्तियों की अनुभूत उपयोगिताएं परस्पर तुलनीय और अतएव संकलनीय नहीं हैं तो सामाजिक हित का क्या मान होगा? आर्थिक नीतियों का सामाजिक हित की दृष्टि से मूल्यांकन कैसे होगा? एक "पैरेटो ऑप्टिमैलिटी" की कसौटी शेष रहती है। पैरेटो के अनुसार वह सामाजिक दशा ऑप्टिमल या अनुत्तर है जिसमें किसी की लभ्य उपयोगिता को तब तक नहीं बढ़ाया जा सकता जब तक किसी अन्य की न घटाई जाए। पर यह स्थिति आवश्यक रूप से वांछनीय नहीं है क्योंकि यह वहां भी होगी जहां दरिद्र की दरिद्रता कम करने के लिए धनी की समृद्धि कम करनी होगी! "हितपरक अर्थशास्त्र का मूल प्रमेय" यह बताया गया है कि पूर्ण प्रतियोगिता आदि कुछ शर्तों के पूरी होने पर 'बाज़ार के सन्तुलन' (मार्केट इक्विलिब्रियम) की स्थिति और पैरेटो ऑप्टिमैलिटी की स्थिति एक-सी होगी।[11]

स्वार्थसन्धान, पैरेटो ऑप्टिमैलिटी और बाज़ार-सन्तुलन से परिभाषित हितार्थशास्त्र (वेल्फेयर इकनॉमिक्स) की आचारशास्त्रीय अन्तर्वस्तु अत्यन्त सीमित है। योग्यताओं और उपलब्धियों का प्रारम्भिक वितरण यदि समुचित हो तो पैरेटो की "अनुत्तरावस्था" अधिक आकर्षक हो सकती है, पर कौन सा प्रारम्भिक वितरण समुचित होगा, इनका पता लगाना कठिन है। पता लगने पर भी समुचित वितरण के लिए अपेक्षित स्वत्व-वितरण की संभावना राजनीतिक तथ्यों पर निर्भर करती है।[12]

पैरेटो-अनुत्तरतामूलक हितार्थशास्त्र का आधार उपयोगितावाद है जिसमें तीन बातें सम्मिलित हैं– (1) हितवाद (वेल्फेयरिज़्म), जिसके अनुसार किसी अवस्था की अच्छाई उसकी उपयोगिता पर निर्भर है।

(2) संकलितानुक्रमिकता (सम-रैंकिंग), जिसके अनुसार किसी अवस्था की उपयोगिता का निर्णय उसकी समस्त उपयोगिताओं के संकलन पर निर्भर करता है।

(3) परिणामात्मकता (कौन्सीक्वैन्शलिज़्म), जिसके अनुसार प्रत्येक उपादेयता-निर्णय परिणामों की अच्छाई पर निर्भर होना चाहिए। हितकारिता (वेल्फेयरिज़्म) की दृष्टि की यह मान्यता है कि सभी मूल्यांकन का आधार प्रतिविशिष्ट

---

11. वही, पृ. 30–34
12. वही, पृ. 35–38
13. वही, पृ. 39

उपयोगिताएं हैं। उपयोगिता का मूल अर्थ इच्छातृप्ति या तृप्ति-सुख की मात्रा था, यद्यपि उसका प्रयोग हित के अर्थ में भी किया जाता है।[14]

इस दृष्टि की एक दुर्बलता तो यह है कि नैतिक मूल्यांकन के संदर्भ में मनुष्य की स्थिति में एक द्वैत देखा जा सकता है। वह कर्त्ता भी है, भोक्ता भी। मानवीय स्थिति की मूल्यवत्ता उसके भोग्य हितसुख के अतिरिक्त उसके कर्त्तृत्व पर निर्भर करती है। कर्त्ता के रूप में मनुष्य के लक्ष्य उसके अपने हित तक सीमित नहीं रहते।

कर्त्तृत्व की प्रासंगिकता का आग्रह आचारमीमांसा को नितान्त वैयक्तिकता की कारा में नहीं डालता, क्योंकि कर्त्तृत्व को महत्त्वपूर्ण स्वीकार करते हुए भी उसके विषयों के सही मूल्य का निर्धारण शेष रहता है। व्यक्ति की आस्था, निष्ठा, आदर्श, लक्ष्य आदि महत्त्वपूर्ण होते हुए भी, उनके सही महत्त्व का निर्धारण विचार का विषय बना रहता है। मूल्यांकन की अन्तर्वस्तु और विषयनिष्ठ मूल्य में अभेद न होते हुए भी मूल्यमीमांसा में दोनों ही प्रकार के मूल्यों का स्थान है।[15]

कर्त्तृत्वमूलक सफलता और स्वगत हितसुख एक सीमा तक परस्पर सापेक्ष होते हुए भी मूलतः विविक्त विषय हैं। स्वाधीनता-सेनानी को पेंशन या पद मिलने से फलित उसकी बेहतरी स्वाधीनता मिलने की कृतकृत्यता से जुड़ी होने पर भी उससे स्वरूपतः विविक्त है।[16]

उपयोगिता सुख या इच्छातृप्ति मानी जाती है। वह हित का सही मान नहीं बताती क्योंकि सुख और तृप्ति के घोर अभाव में थोड़ा सुख और तृप्ति भी बहुत प्रतीत होते हैं। उपयोगिता न सिर्फ सापेक्ष प्रतीति है बल्कि हित की सर्वथा अपर्याप्त व्याख्या भी है। "सुखी होना" मूल्यानुसन्धान नहीं है और "इच्छा करना" मूल्यप्रतीति का परिणाम है। इस प्रकार न उपयोगिता हित से अभिन्न है, न मूल्यप्रतीति का एकमात्र आधार, न मूल्य हितमात्र है, न उपयोगित्ता हित का यथार्थ मान।[17] किस बात से मनुष्य को दूसरों की अपेक्षा लाभवान् माना जा सकता है, इसकी अनेक सही व्याख्याएं सम्भव हैं। उसकी उपलब्धि या कृतित्व की ओर दृष्टि डालने पर हित और कर्त्तृत्व की धारणाएं विचार्य बनती हैं।

---

14. वही, पृ. 40
15. वही, पृ. 41–42
16. वही, पृ. 43–44
17. वही, पृ. 45–46

दूसरी ओर मानवीय लाभ को स्वतंत्रता के रूप में भी समझा जा सकता है और इस प्रकार की विचारणा हमें "अधिकार" (राइट), स्वायत्तता (लिबर्टी) और यथार्थ अवकाश (अॅपर्च्युनिटी) की दिशा में ले जाती है। यह स्मरणीय है कि मानवीय लाभवत्ता की व्याख्या से विषमता और अन्याय के मूल्यांकन में अन्तर पड़ता है। यदि अतिशय के अनेक आयाम हैं तो समता और विषमता भी अनेकायामिक होगी। अतिशय की व्याख्या के अनुरूप ही व्यवस्था की साधकता की भी व्याख्या होगी। उदाहरण के लिए जहां अतिशय (एडवैन्टेज) उपयोगिता से व्याख्यात है वहां साधकता (एफिशेन्सी) पैरेटो-अनुत्तरता (ऑप्टिमैलिटी) से व्याख्यात होगी।[18]

उपयोगितावादी आलोचना के बावजूद नैतिकता की अधिकारमूलक मीमांसा की एक प्रबल धारा पुनरुज्जीवित हुई है। उपयोगितावादी अर्थशास्त्र में अधिकार उपयोगी साधनमात्र हैं, स्वयं साध्य नहीं हैं। यही दृष्टिकोण हितार्थशास्त्र में भी व्याप्त है।

हितपरक अर्थशास्त्र हो या फलादेशपरक (प्रिडिक्टिव) दोनों ही में नैतिकता की मीमांसा को समुचित स्थान नहीं दिया गया है। हित और अनुत्तरता के प्रत्यय उपयोगिता और बाज़ार-सन्तुलन के प्रत्ययों के सन्निकट हैं। वे नैतिक मूल्यों पर सम्यक् विचार से अप्रभावित हैं यद्यपि कुछ विचारकों ने अनुत्तरता की कल्पना को प्रारम्भिक न्याय्य वितरण की कल्पना से जोड़कर अधिकार, समता, स्वतंत्रता आदि की अवधारणाओं की जो नयी व्याख्याएं की हैं उनसे अर्थशास्त्र के लिए नयी गहराई प्रस्तुत हुई है। अधिकार और स्वतंत्रता के परिप्रेक्ष्य में व्यवहार का मूल सिर्फ स्वार्थ-संधान में देखना निश्चय से अपर्याप्त सिद्ध होता है।[19]

तीसरा व्याख्यान स्वाधीनता और उसके परिणामों पर है। उपलब्धि (एचीवमेन्ट) और स्वाधीनता (फ्रीडम) को हित (वेलबींइग) और कर्तृत्व (एजेन्सी) से जोड़कर चार मुख्य मूल्य-पदार्थ निष्पन्न होते हैं – हितविषय-उपलब्धि, हितविषयक स्वाधीनता, कर्तृत्वमूलक उपलब्धि, कृर्तृत्वविषयक स्वाधीनता। मूल्यांकन के न तो विषय एकरस हैं, न मूल्यांकन सब मूल्य-विषयों का क्रमबद्ध श्रेणीकरण है। मूल्य-विषयों के और मूल्यांकन की कसौटियों के नानात्व की धारणा नैतिकता की मीमांसा के पूर्वाभ्युपगमों से संबद्ध प्रश्नों को उठाती है, जो कि न स्पष्ट हैं, न निर्विवाद। "सोशल चौइस थियरी" में इस प्रकार के नानात्व

18. वही, पृ. 48, पा. टि.
19. वही, पृ. 48–57

का अभ्युपगम मिलता है ।[20]

नाना मूल्य-विषयों के उपस्थित होने पर उनकी ओर प्रवृत्ति के विकल्पों में भी पाक्षिक रूप से मूल्यात्मक न्यूनाधिक्य उपस्थित होता है। तीन प्रकार से इस परिस्थिति से जूझा जा सकता है। पहले तो इस बात को परखा जा सकता है कि योग्य विनिमयात्मक समीकरणों (ट्रेड ऑफ) के पश्चात् एक विकल्प से संग्राह्य उपादेय विषयों का समूह दूसरे से श्रेष्ठ है अथवा नहीं। यह निश्चत नहीं है कि एक विकल्प दूसरे से इस प्रकार श्रेष्ठ सिद्ध किया जा सके और उपादेयता का प्रश्न समाधेय हो। कुछ स्थितियों में इस प्रकार के चुनाव में मूल्यक्षति अपरिहार्य है। ये कठोर या ट्रैजिक निर्णय के स्थल होंगे।

यह पहला नय "संतुलित निःशेष श्रेणीकरण" (बैलेंस्ड कम्प्लीट ऑर्डरिंग) का है। दूसरे में अधूरा श्रेणीकरण और बहुमुखी मूल्यांकन रहता है। इसमें नाना अवयवों की संगति से अवयवियों का श्रेणी-निर्धारण होता है। इन दो नयों के विरुद्ध तीसरे में विभिन्न दृष्टियों से विसंगत श्रेणीकरण संभव है। सार्वजनिक नीति-निर्धारण में पहला नय अथवा अगत्या दूसरा उपादेय होता है।[21]

आर्थिक नीतिनिर्धारण के साथ बहुत से नैतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मसले जुड़े रहते हैं. पर उनका समाधान नैतिक मीमांसा के साहित्य में भी दुर्लभ है, किंतु अर्थशास्त्रीय विश्लेषण के तरीकों का प्रयोग आचारशास्त्र में उपयोगी हो सकता है।[22]

अधिकारों और स्वतंत्रताओं को अर्थशास्त्र में प्रायः कानूनी साधनों के रूप में लिया जाता है। यद्यपि यह अपर्याप्त है तो भी मात्र अधिकारमूलक नैतिकता की अवधारणा समाज की जटिल परस्पर-सापेक्षता की स्थिति में अनुपयोगी होगी। अधिकारों को मात्र वर्जनात्मक लेने पर उसमें वर्जना-प्रतिरोध की वर्जना के लिए विधि अनिवार्य हो जाती है। उन्हें विधिरूप लेने पर भी उनकी व्यावहारिक अवहेलना की वर्जना अनिवार्यतया उपलब्ध होती है। दूसरी ओर व्यापक संबन्धात्मक सापेक्षता (इन्टर डिपैन्डेन्स) के सन्दर्भ में अधिकारों को मानने या न मानने के परिणामों का आकलन अर्थशास्त्रीय आकलन के अनुकूल है।[23]

परिणामों के चिन्तन को अधिकारों की स्वरूपगत मूल्यवत्ता की उपेक्षा नहीं कहा जा सकता क्योंकि स्वरूपतः मूल्यवान् कार्यों के भी परिणाम होते हैं और ये

---

20. वही, पृ. 61–62
21. वही, पृ. 64–68
22 वही, पृ. 71
23. वही पृ. 70–73

परिणाम सर्वथा प्रत्याशित रूप में स्वरूपापेक्षित ही नहीं होते । वस्तुतः परिणामों की उपेक्षा कार्यों के नैतिक विवेचन को अधूरा छोड़ देती है । परिणामचिन्तन आवश्यक है, पर्याप्त नहीं ।[24]

आचार-मीमांसा (एथिक्स) का भी एक साधनात्मक या "अभियांत्रिकी" पक्ष है जो नैतिक लक्ष्यों के कार्यान्वयन से संबद्ध है । इस प्रक्रिया में सामाजिक सम्बन्धों की पारस्परिक सापेक्षता और कर्मनीतियों के परिणामों का आकलन आवश्यक है । इस प्रकार का आकलन और विश्लेषण अर्थशास्त्र की विशेषता है ।

पर उसमें व्यवहार की स्वार्थपरकता को प्रधानता देना उसे सीमित और पथ-भ्रष्ट करता है एवं उसकी फलादेशात्मक (प्रिडिक्टिव) उपयोगिता को भी घटाता है ।[25]

पर यह स्मरणीय है कि स्वार्थपरक व्यवहार की जटिल संरचना में तीन स्वतंत्र घटक हैं – अपने उपभोग के रूप में अपना हित (जो दूसरों के प्रति तटस्थ है), अपने हित को अधिकतम करने का प्रयास (जो दूसरों के हित के प्रति तटस्थ है), अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए ही साधनों को चुनने का निर्णय (जो कि पारस्परिक सापेक्षता के और दूसरों के लक्ष्यसंधान के प्रति तटस्थ है) । प्रचलित अर्थशास्त्र में ये तीनों अभ्युपगम एकसाथ कर लिए जाते हैं, पर यह आवश्यक नहीं है ।

इनमें तीसरे अभ्युपगम में परिणाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं । उसके आधार पर प्रत्येक की कार्यनीति सामूहिक सफलता को कम कर सकती है । दूसरी ओर स्वार्थपरक कार्यनीतियां सहयोग के अनुकूल कार्यों को भी जन्म देती हैं । इसका कारण व्यक्तियों का कोई "दोष" हो सकता है, अथवा यह भी संभव है कि व्यक्तियों के प्रकृत लक्ष्य उनके वास्तविक लक्ष्य न हों या वे औरों के साथ अपनी निर्भरता का बोध रखते हों । अपने लक्ष्यों को अलग रखने पर भी अन्यनिर्भरता के बोध से नीतिनिर्णय में एक समूहानुकूल बुद्धि की प्रयोजकता उभरती है । पारस्परिकता के स्वतः मूल्यवान् न प्रतीत होने पर भी वह एक मूल्यवान् साधन प्रतीत हो सकती है । सामाजिक नैतिकता कम से कम इस साधानात्मक अन्या-पेक्षिता से जुड़ी हुई है ।[26] एडम स्मिथ के शब्दों में "आचार-व्यवहार के वे सामान्य नियम जो हमारे अन्दर अभ्यस्त विचार से दृढ़ांकित हैं हमारी उन

---

24. वही, पृ. 74–77
25. वही, पृ. 78–79
26. वही, पृ. 80-86

भ्रान्तियों को दूर करने में सहायक होते हैं जो परिस्थिति-विशेष में हमारे कर्त्तव्य के विषय में ममत्व या आत्मस्नेह से उत्पन्न होती हैं ।[27]

इन व्याख्यानों में प्रो. सेन का मुख्य विषय आचार और व्यवहार, धर्म और नीति का सन्धि-क्षेत्र है और उनका मुख्य उद्देश्य अर्थशास्त्रियों को यह परामर्श देना है कि अर्थशास्त्र को मात्र उपयोगिता का गणित न होना चाहिए, क्योंकि सिर्फ इतने आधार पर लोक-हित की कल्पना या विधान संभव नहीं है । अर्थशास्त्र के नैतिक अभ्युपगमों की उन्होंने तीव्र आलोचना की है । ये अभ्युपगम न तो न्यायोचित हैं, न उनके आधार पर मानव-व्यवहार समझा जा सकता है । यह तथ्यात्मक रूप से असिद्ध है कि स्वार्थमात्र मानव-व्यवहार का प्रयोजक है । मानवमूल्यों को या हित-सुख को समझने के लिए उपयोगिता का प्रत्यय अपर्याप्त है । सुख और तृप्ति के अतिरिक्त कर्त्तृत्वमूलक लक्ष्य और नाना स्वतंत्रताएं भी मानवीय मूल्य हैं । न सन्तुलन का सिद्धान्त ही आदर्श व्यवस्था सूचित करता है । सामाजिक हितसुख का सिद्धान्त भी उपयोगितावाद पर आधारित होने से सदोष है । पर यह स्मरणीय है कि भोगवाद के विभिन्न प्रकारों की दार्शनिक आलोचना बहुधा हो चुकी है । किन्तु प्रो. सेन आदर्शवादी परम्परा का, एक ऐतिहासिक संदर्भ में अरस्तु को छोड़कर, कहीं उल्लेख नहीं करते । उनका मूल्यसिद्धान्त अनुभववादी है, बुद्धिवादी या अध्यात्मवादी नहीं । उनका अनुक्त मूल्य-लक्षण है – जो विषय व्यक्ति अपने लक्ष्य के रूप में चुने । यह बात दूसरी है कि उसका चुनाव न्यूनाधिक रूप में युक्तिसंगत हो सकता है ।

प्रो. सेन का सुझाव है कि अर्थ-नीति के निर्धारण को मूल्य-नानात्व मानकर प्रवृत्त होना चाहिए । उसका गणित जटिल होते हुए भी संभव है जैसा "सोशल चॉइस थियरी" में देखा जा सकता है । उपयोगिता, हित-सुख, अर्थसाधकता, कर्त्तृत्वमूलक अभीष्ट लक्ष्य, अधिकार, स्वातंत्र्य इन सभी मूल्यों का सही ब्योरा और समाधान आवश्यक है । प्रो. सेन के द्वारा की गयी प्रचलित अर्थशास्त्र की आलोचना सटीक होते हुए भी वास्तव में उसकी ही परम्परा के अन्तर्गत विसंगित-बोध और परिष्कार का प्रयत्न है । वे यह स्वीकार करते हैं कि अर्थशास्त्र की अभ्युपगत नैतिक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक मान्यताएं सार्वभौमिकता के अपने दावे में मूलतः भ्रान्त नहीं हैं । वे इसका कोई संकेत नहीं देते कि वर्तमान अर्थशास्त्रीय परम्परा एक विशेष ऐहिकतावादी, पूंजीवादी समाज से संबद्ध है ।

---

27. वही, पृ. 87

प्रो. सेन की चर्चा मूलतः वर्तमान अर्थशास्त्र के वैचारिक दायरे के अन्दर है, उनका आचारशास्त्र सर्वथा एकदेशी और व्यक्तिवादी है पर उनका ध्यान उसकी विवादग्रस्त सैद्धान्तिक मीमांसा पर न होकर उसमें निर्दिष्ट नैतिक चेतना के प्रायः स्वीकृत लक्ष्यों की ओर है। वे चाहते हैं कि नैतिक लक्ष्यों के प्रति सजग होकर अर्थशास्त्र अपने गणित का विकास करे। यह निर्विवाद है कि नैतिक चेतना स्वतःपर्याप्त सैद्धान्तिक या आत्मलीन रसात्मक चेतना न होकर कार्योन्मुख व्यावहारिक चेतना की पूर्वभूमिका होती है, इसीलिए वह अर्थशास्त्र को आक्षिप्त करती है। "धर्मादाक्षिप्यते ह्यर्थः", आदर्श जीवन की साधना के लिए समुचित जीवन-निर्वाह की आवश्यकता है, धर्म के लिए नीति की। पर इस नीति को मात्र अर्थशास्त्रीय समझना अन्याय है। अरस्तू में वह मुख्यतया राजनीति ही है, भारतीय परम्परा में वह राजनीति और अर्थनीति का संयुक्त रूप है। प्रो. सेन राजनीति की ओर अधिकांश में मौन बरतते हैं, जो कि विस्मयजनक है, विशेषतया आजकल के संदर्भ में जब कि अर्थतंत्र और राज्यतंत्र का संबन्ध विश्वचर्चा का एक मुख्य विषय है। बाह्य परिस्थितियों के अपरिवर्तित रहने पर और कानूनी एवं रूढ़िमूलक व्यवस्थात्मक प्रतिबन्धों के अभाव में स्वार्थपरक और स्वतंत्र व्यक्ति के आर्थिक व्यवहार का निरूपण क्लासिकल अर्थशास्त्र में मिलता है। स्वतंत्रता आदि अधिकारों का ब्योरा भी इसी परम्परा का राजनीतिक पक्ष था। पिछली तीन-चार सदियों में विकसित व्यक्तिवादी दृष्टि के ही विभिन्न नैतिक, आर्थिक और राजनीतिक पक्ष जुड़कर उस प्रत्यय-परिप्रेक्ष्य का निर्माण करते हैं जिसमें प्रो. सेन के नये परिष्कारों की देन है। इस परिप्रेक्ष्य के गम्भीर अन्तर्विरोधों और कमियों को अपरिहार्य मान कर वे उसके घेरे से निकलना नहीं चाहते बल्कि उनके समन्वय और समाधान का प्रयास करते हैं। उनका अर्थशास्त्र राजनीति की सम्प्रभुता को नहीं देखता, न उनका आचारशास्त्र धर्म की व्यापकता को।

व्यक्तिवाद मानवप्रतिमा को परम्परागत धर्म की उपेक्षापूर्वक गढ़ता है। लोकोत्तर जीवन और उसके ज्ञापक शब्द-प्रमाण के अभाव में मनुष्य एक प्राकृतिक प्राणी बन जाता है और उसका विवेक लौकिक प्रज्ञा मात्र। हित-अनहित को पशु पक्षी भी जानते हैं, कम्प्यूटर से निर्देशित होने पर भी उनकी समझ मानवीय विवेक नहीं बन सकती जिस पर धर्म प्रतिष्ठित है। प्रत्यक्ष और उस पर आश्रित अनुमान ही यदि मानवीय ज्ञान के आधार हैं तो मानव-जीवन प्रवृत्तिजीवन से ऊपर नहीं उठ सकता, न पृथक् देहियों के स्वार्थविरोध की खाई बृहत्तर आत्मबोध या परमात्मबोध से पाटी जा सकती है।

नैतिक मूल्य क्या हैं या कौन से हैं, इन प्रश्नों पर प्रो. सेन प्रतीति, मान्यता और अनुमानित परिणामों के आधार पर चुनाव को आधारभूत मानते हैं। यद्यपि वे तात्त्विक लक्षण और प्रमाण के प्रश्नों को नहीं उठाते हैं, तो भी उनके लिए मूल्यविषयक प्रतीति और मान्यता मात्र लौकिक और ऐहिक हैं एवं मूल्य सीमित, विश्लेष्य, मेय और तुलनीय हैं। उनके मूल्य कर्म-भोगात्मक अनात्म विषय हैं जिनके अनुसंधान में आत्मानात्मविवेक का प्रश्न भी नहीं उठाया जाता।

जो रैशनैलिटी विविध रूप से व्याख्यात होने पर यहां अर्थशास्त्र और आचार-शास्त्र का समान आधार मानी गयी है वह स्वयं आध्यात्मिकता से अछूती, वैषयिकता में फँसी प्रज्ञा है। वह प्रत्यक्षगृहीत सामग्री में आकार-निर्धारण कर सकती है, और बाह्य अथवा मानसिक घटनाओं के संबन्ध, क्रम, मान आदि निश्चित कर सकती है और इस प्रकार भौतिक विज्ञान, मनोविज्ञान एवं आकार-विज्ञान प्रस्तुत कर सकती है, पर वह नित्यानित्य, आत्मानात्म अथवा धर्माधर्म का विवेक नहीं कर सकती क्योंकि प्रस्तुत विषयों की प्रतियोगी अविषयात्मक चेतना उसके लिए असत्प्राय है। फलतः मूल्याभास से परिचित होकर भी वह मूल्य से अपरिचित रहती है। उनके मूल्यांकन मूल्यसंहित 'आर्य' जीवन के आधार किस प्रकार बन सकते हैं? वे सिर्फ प्राकृत, पृथग्जन जीवन के आधार हो सकते हैं। त्याग और अपरिग्रह, निष्काम कर्म और मुक्ति का यहां कोई स्थान नहीं है।

प्रो. सेन की कृति में प्रस्तावित अपूर्व अर्थशास्त्रीय प्रतिपादनों की भूरि-भूरि प्रशंसा हुई है, उनकी नैतिक आदर्शवादिता और उसे व्यक्त करने का साहस श्लाघनीय है। उन्होंने अर्थशास्त्रियों का ध्यान नैतिक लक्ष्यों की ओर दिलाया है और उन लक्ष्यों को व्यावहारिक रूप देने के संदर्भ में उपयुक्त अर्थशास्त्र की कल्पना पर विचार किया है। पर उनका विचार सर्वथा समसामयिक और अध्यापकीय मान्यताओं की चहारदीवारी के अन्दर है, उसमें न राजनीति के विप्लव की गन्ध है, न आध्यात्मिकता का अनाकार आकाश। उसकी पारिभाषिक हदबन्दी देखकर लगता है कि धर्म और नीति मानो गणित के परिभाषित विषय हों।

11, बलरामपुर हाऊस
इलाहाबाद-211002

भारतीय आध्यात्मिक जड़वाद

नारायण शास्त्री द्राविड़

भारतीय दर्शनों में सांख्य दर्शन का स्थान कुछ विचित्र सा है। प्राचीन काल में यह दर्शन वेदान्त के समकक्ष समझा जाता था। महाभारत, पुराण, गीता, उपनिषत् आदि पुरातन कालीन भारतीय वाङ्मय में अधिकतर सांख्य और वेदान्त का ही दर्शन के रूप में उल्लेख दिखायी देता है। ब्रह्मसूत्र तथा उसके भाष्यों का एक बहुत बड़ा अंश सांख्य-सिद्धान्तों की चर्चा तथा उनमें खंडनार्थ ही प्रयुक्त हुआ है। सांख्य के सत्कार्यवाद का पूर्ण या आंशिक पुरस्कार न्याय-वैशेषिकेतर सभी भारतीय दर्शनों ने किया है। सांख्य के त्रैगुण्य-सिद्धान्त को तो मीमांसा और वेदान्त ने विश्व की सृष्टि-प्रलय-प्रक्रिया के स्पष्टीकरणार्थ पूर्णतया अपनाया है। किन्तु विद्वन्मान्यता-प्राप्त इस दर्शन पर दो-तीन से अधिक प्रमाणभूत ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। सम्भवतः इतने ही ग्रन्थ लिखे भी गये होंगे। इस उपेक्षा का क्या कारण है, यह कहना कठिन है। इस उपेक्षा के फलस्वरूप इस दर्शन की मूलभूत अवधारणायें अस्पष्ट बनी हुई हैं। जैसे, महत् या बुद्धि और पुरुष-चेतना की समानता-असमानता, शब्द-प्रमाण स्वीकार की आवश्यकता, प्रकृति-पुरुष-संबंध, प्रकृति का बद्ध या मुक्त होना, बंध और मोक्ष की प्रक्रियाओं का स्वतः नियंत्रण आदि अनेक सांख्यीय अवधारणायें हैं जिनका संतोषजनक स्पष्टीकरण सांख्यतत्त्वकौमुदी जैसी प्रौढ़ व्याख्याओं में भी नहीं मिलता। उदाहरण के तौर पर शब्द-प्रमाण की आवश्यकता के समर्थन में वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि देवताओं के ज्ञान के लिए शब्द-प्रमाण का ही उपयोग संभव है, अनुमानादि का नहीं। वाचस्पति मिश्र यह नहीं बताते कि ये कौन सी देवतायें हैं जिनका ज्ञान अपेक्षित है और सांख्य के दार्शनिक विचार में इन तथाकथित देवताओं का क्या स्थान है? अन्य उपयुक्त विषयों के संबंध में भी न वाचस्पति मिश्र का, न अन्य किसी का ही स्पष्टीकरण संतोषजनक है। तो क्या, सांख्य वैचारिक दृष्टि से वास्तव में एक उपेक्षणीय दर्शन ही है? नहीं। हम इस दर्शन को एक अनन्य-साधारण दर्शन मानते हैं। इसका कारण यह है कि जडवाद का पार्यन्तिक रूप से पुरस्कार करने वाला संसार भर के दर्शनों में केवल सांख्य ही है। भारतीय चार्वाक भी जड़वाद का पुरस्कारक है, लेकिन चार्वाकीय जड़वाद में चेतना या बुद्धि को एक स्वतंत्र पदार्थ नहीं माना गया है। कुछ जड़ पदार्थों के परस्पर संयोग से बुद्धि या चेतना का आविर्भाव होता है ऐसा चार्वाक मानते हैं। सांख्य-मत में बुद्धि या महत् एक स्वतंत्र तत्त्व माना गया है। इस तत्त्व का आविर्भाव

प्रकृति में से होता है। प्रकृति जड़ होने से बुद्धि भी जड़ है। अंहकार भी जड़ ही है और उसका आविर्भाव महत् से होता है।

सांख्य को कुछ विचारक द्वैतवादी मानते हैं क्योंकि इसमें चेतन पुरुष तथा अचेतन प्रकृति जैसे अलग-अलग और परस्पर विरुद्ध तत्त्व मूल तत्त्वों के रूप में स्वीकार किये गये हैं। मध्वाचार्य के द्वैतवाद के समान ही यह द्वैतवाद प्रतीत होता है। लेकिन द्वैतवाद में जड़ को हमेशा चेतनाधीन माना जाता है। जैसे मध्वाचार्य के दर्शन में जड़ प्रकृति परमात्मा के अधीन समझी गयी है। ऐसी बात सांख्यीय प्रकृति की नहीं है। प्रकृति सांख्यमतानुसार अपने सब क्रियाकलाप को चलाने के लिए स्वतंत्र है। वह स्वयं विश्व को अपने अंतरंग में से क्रमशः प्रस्फुटित कर उसे व्युत्क्रम से अपने में स्वयं समा लेती है। इन विकास-ह्रास की प्रक्रियाओं को ही 'बंध' और 'मोक्ष', ये संज्ञायें दी गयी हैं। वैसे देखा जाये तो प्रकृति की विश्वोत्पत्ति तथा विश्वप्रलय की प्रक्रियाएं ही पुरुष के सान्निध्य या साम्मुख्य से बंध और मोक्ष के स्वरूप को धारण करती हैं। इन प्रक्रियाओं के घटित होने के लिए प्रकृति को पुरुष-चेतना की किसी प्रकार की आवश्यकता नहीं होती। प्रकृति अपनी क्रिया-प्रक्रियाओं के लिए पूर्णतया स्वतंत्र है। विज्ञान जैसे विश्व को एक स्वयंपूर्ण संस्थान मानता है (क्योंकि विज्ञान के अनुसार इस संस्थान के अन्तर्गत सभी क्रिया-प्रतिक्रियाएं संस्थान-बाह्य ईश्वर या अन्य किसी तत्सदृश कारण की अपेक्षा न कर संस्थानान्तर्गत कारणों के द्वारा ही उत्पादित होती हैं) वैसे ही सांख्य भी पुरुष-रहित विश्व को पूर्णतया एक स्वयंपूर्ण प्रकृति-विकृति-भावात्मक संरचना मानता है। इस संरचना का मूल कारण प्रकृति जड़ है क्योंकि उसमें प्रवर्तक चेतना नहीं है। यह चेतना पुरुष का ही स्वभाव विशेष है। चेतना की विधाओं के सन्दर्भ में सांख्यकारिका और उसकी व्याख्यायें कोई स्पष्टीकरण नहीं देतीं। सांख्य का प्रतिवाद करने वाले दर्शनों ने भी इस न्यूनता की ओर दृष्टिपात नहीं किया है जो बड़ी विस्मयावह बात है। यदि पुरुष-चेतना और प्रकृति से उद्भूत महत् या बुद्धिरूप चेतना एक ही या एक जैसी ही हों तो सांख्य-दर्शन का मूलाधार जो प्रकृति-पुरुष का द्वैत है वही समाप्त हो जाता है। चेतना, जो पुरुष का स्वभाव या स्वरूप है, वह प्रकृति की विकृति ही होने से या प्रकृत्यन्तर्गत सत्वगुण का ही परिणाम होने से पुरुष का अन्तर्भाव प्रकृतिजनित विश्व में ही हो जायेगा। इस कारण महत्-रूप चेतना तथा पुरुष-रूप चेतना इन दोनों के भेद को स्पष्टतया समझना आवश्यक है। महत् रूप चेतना को हम ग्रहणशील तथा पुरुष-चेतना को सृजनशील कहकर एक-दूसरे से अलगा सकते हैं।

विज्ञान के जड़वाद से सांख्य का जड़वाद अधिक परिष्कृत प्रतीत होता है। अरस्तू के समय से मध्ययुग की समाप्ति तक वैज्ञानिकों की यही मान्यता रही थी

कि क्रिया चेतन का ही धर्म है और चूंकि विश्व की उत्पत्ति विश्व के मूल कारणों को सक्रिय बनाये बिना नहीं हो सकती अतः ईश्वर जैसे किसी कारण की इन मूल कारणों में क्रिया उत्पन्न करने के लिए आवश्यकता होती ही है। न्यूटन जैसा महान् वैज्ञानिक भी यह मानता था कि विश्व-निर्मायक आद्य क्रिया के लिए ईश्वर की अनिवार्य आवश्यकता है। बाद की वैश्विक क्रियायें भले ही ईश्वर की अपेक्षा न रखती हों लेकिन जाड्य नियम की खोज के बाद जड़ की निष्क्रियता की परम्परागत अवधारणा को वैज्ञानिकों ने त्याग दिया। इस नियम के अनुसार निश्चलता जड़ता नहीं है, सक्रिय वस्तु भी जड़ हो सकती है। निष्क्रिय का सक्रिय होना यह अजड़ता का सूचक हो सकता है और इस परिवर्तन के लिए कारण की अपेक्षा हो सकती है। इसी प्रकार सक्रिय वस्तु निष्क्रिय हो जाये तो इस परिवर्तन के लिए भी कारण या क्रिया के प्रतिबंधक की अपेक्षा हो सकती है। विश्व में कोई भी वस्तु निष्क्रिय नहीं है। पृथ्वी पर सभी वस्तुएं पृथ्वी की विभिन्न गतियों में सहभागी होने से वे स्वीय गति से युक्त न भी हों तो भी पृथ्वी की गति से गतिमान् होती ही हैं। अन्यान्य ग्रह-नक्षत्र भी गतिमान् ही हैं। अतः गति वस्तु मात्र का स्वभाव माना जा सकता है। इसलिए जड़ स्वयं गतिमान् होने के कारण आद्य गति के कर्त्ता के रूप में भी ईश्वर की सत्ता आधुनिक वैज्ञानिक नहीं मानते।

सांख्य प्रकृति की गतिशीलता, परिणामिता या प्रक्षोभ को प्रकृति में समाविष्ट गुण-त्रय की अन्योन्य प्रक्रिया का परिणाम मानता है। सांख्य की गुण-त्रय की अवधारणा इस सम्बन्ध में असमान्य महत्त्व रखती है। अन्य सभी दर्शनों ने द्रव्य या द्रव्य-परमाणुओं से सृष्टि का आरम्भ माना है। इनमें आपस में कोई भिन्नता नहीं होती। जो कोई भिन्नता होती है वह इनके विभिन्न गुणों (या विशेष गुणों) के कारण ही हुआ करती है। जैसे न्याय-वैशेषिक मत में पृथ्वी के परमाणु जल-परमाणुओं से केवल इसीलिए भिन्न होते हैं कि इनके विशेष गुण : गंध तथा स्पर्श: एक-दूसरे से भिन्न हैं। यदि गंध को पृथ्वी-परमाणु का अनित्य गुण माना जाये तो इस परमाणु की भिन्नता केवल इसके अपरिभाष्य विशेष के कारण ही माननी पड़ेगी। द्रव्यों की या द्रव्य-परमाणुओं की भिन्नता गुण-कृत या धर्मकृत हो सकती है। इसलिए विश्व में जो वैविध्य दिखायी पड़ता है उसकी सही उपपत्ति गुणों को सृष्टि का मूल कारण मानकर देना ही तर्क-संगत होगा। गुण-धर्म स्वभावतः ही एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। इसी प्रकार द्रव्यों से असम्बद्ध या द्रव्यों के रूप में अपरिणत गुण अपने में सूक्ष्म होते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में जो तत्त्व सृष्टि के मूल कारण के रूप में विद्यमान होगा वह सूक्ष्म ही होगा। इसलिए गुण-त्रयात्मक प्रकृति को विश्व का मूल कारण मानना किसी या कुछ द्रव्यों को मूल कारण

मानने से अधिक तर्क-संगत प्रतीत होता है। गुण-त्रय कुछ बातों में एक-दूसरे के विरोधी होने से इनके विभिन्न प्रकार के पारस्परिक सन्निवेश से विभिन्न तत्त्वों की उत्पत्ति मानना भी तर्कसंगत ही होगा। गुण-त्रय का विरोध ही प्रकृति और उसके जरिये सम्पूर्ण विश्व की परिणामिता या क्रियाशीलता का स्पष्टीकरण करने में भी सहायक होता है। अन्य कोई भारतीय दर्शन विश्व के वैविध्य की संतोषदायक उपपत्ति नहीं दे पाया है। अद्वैत वेदान्त ने एकमात्र ब्रह्म को परम सत्य मानकर सम्पूर्ण विश्व की पारमार्थिक सत्यता को ही अस्वीकार कर दिया है। विश्व को व्यवहारतः सत्य मानना यह परोक्षतया उसकी असत्यता का ही पुरस्कार है। द्वैतवादी दर्शनों ने चेतन और जड़ को एक-दूसरे से आत्यंतिक भेद-युक्त ठहराकर उनके परस्पर संबंध की वास्तविक संभावना को ही समाप्त कर दिया है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में अनेक पदार्थों के स्वीकार के आधार पर वैविध्य के उपपादन का प्रयास अवश्य किया गया है लेकिन द्रव्य, गुण, कर्म ये द्रव्य के साथ और ये तीनों सामान्य के साथ समवायरूप संबंध से सम्बद्ध होकर एक-दूसरे से अलग अपनी सत्ता कैसे बनाये रख सकते हैं यह बात इन पदार्थों का स्वीकर्ता न्याय-दर्शन संतोषदायक रूप से नहीं बता पाया है।

सांख्यीय जड़वाद की एक और विशेषता है जो वैज्ञानिक जड़वाद में नहीं दिखायी देती। सांख्य अहंकार, बुद्धि, मन या अन्तःकरण इन आंतरिक तत्त्वों की सत्यता स्वीकार करता है जबकि विज्ञान इनके संबंध में कोई विचार ही नहीं करता। यही नहीं, सृष्टि-प्रक्रिया के स्पष्टीकरण के लिए सांख्य इन सभी उपेक्षित तत्त्वों का उपयोग करता है। त्रिगुणात्मक प्रकृति से महत् या विश्वव्याप्त बुद्धि, बुद्धि से अहंकार और अहंकार से पांच तन्मात्र ये और इनके बाद दृश्य पंच-महाभूतात्मक विश्व की क्रमशः उत्पत्ति होती है ऐसा सांख्य मत है। इस क्रम को अपनाकर सांख्य ने आंतरिक या मानसिक विश्व तथा बाह्य विश्व इनके भेद को समाप्त कर दिया है। जो घटक अहंकार, बुद्धि आदि में अन्तर्भूत हैं वे ही भिन्न-भिन्न मात्राओं में पंचमहाभूतात्मक विश्व में भी विद्यमान हैं। इस कारण मानसिक तथा बाह्य वस्तुओं में कोई गुणात्मक भेद न हो मात्रात्मक भेद ही है। मानसिक इच्छा, द्वेषादि जो अनान्य वृत्तियां (सांख्य परिभाषानुसार "भाव") कही जाती हैं उनका समावेश बुद्धि में ही होता है।

एक बात यहां ध्यान में रखनी चाहिये। अहंकार, बुद्धि, तन्मात्र आदि प्रकृति के विकार होने पर भी एक-दूसरे से अलग तत्त्व हैं। तत्त्वान्तरता का निकष तत्त्वों की कम-अधिक सूक्ष्मता को ही मानना होगा। प्रकृति सूक्ष्मतम तत्त्व है और महत्, अहंकार आदि की सूक्ष्मता क्रमशः घटती हुई पंचमहाभूतों में स्थूलता में परिणत हो जाती है। यह सूक्ष्म-स्थूल तत्त्वों का भेद विज्ञान के स्थूल विश्व और

अणुविश्व के भेद के समान ही है। यह बात अलग है कि विज्ञान का स्थूल विश्व पंचमहाभूतों या तन्मात्राओं के स्तर पर समाप्त हो जाता है और तन्मात्राओं को ही विज्ञान के अणुओं के समकक्ष मानना पड़ता है। तन्मात्राओं के पीछे जाकर अहंकार, महत् तथा प्रकृति का तो विज्ञान विचार ही नहीं करता। लेकिन नवीनतम भौतिक विज्ञान में चेतना का विश्व के मूल कारण के साथ संबंध स्वीकार आवश्यक समझा गया है। इस मूल कारण को, जिसे एक क्षेत्र के रूप में वैज्ञानिक अपनी यूनीफाइड फील्ड थ्योरी या सर्वकण क्षेत्र-सिद्धान्त में प्रस्थापित करना चाहते हैं, हम यदि प्रकृति के समकक्ष कहें तो विशेष विपर्यास नहीं होगा। विश्व की विकास-विलय की प्रक्रियाओं के मूल में जो अन्यान्य शक्तियां (गुरुत्वाकर्षण, विद्युच्चुबंकीय, नाभिकीय आदि) कार्य कर रही हैं उन सबकी जननी या अधिष्ठान प्रकृति ही है।

प्रकृति या जड़तत्त्व को स्वभावतः ही विकारी या क्रियाशील मानकर सांख्य ने आधुनिक विज्ञान के समान ही सृष्टिकर्त्तृत्व की समस्या का ईश्वर या अन्य किसी अलौकिक सत् का अस्तित्व माने बिना ही समाधान कर लिया। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सांख्य की दृष्टि में निष्क्रियता जाड्य का लक्षण नहीं है। परिणामिता तथा नये-नये परिणामों या विकारों को जन्म देना यह चेतनता की पहचान नहीं है। जड़ वस्तुएं परिवर्तनशील होती ही हैं। किन्तु जड़ की क्रियाएं यदि सोद्देश्य प्रतीत होती हों तो इस तथाकथित जड़ के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में संदेह हो सकता है। प्रकृति के विषय में ऐसे संदेह की काफी गुंजाइश प्रतीत होती है। प्रकृति क्रमशः महत्, अहंकार, तन्मात्र आदि में परिणत होने के बजाय तन्मात्र, अहंकार, पंचमहाभूत तथा बुद्धि इस क्रम से ही क्यों नहीं परिणत होती या यह परिणाम का सिलसिला महत्, अहंकार के स्तर पर पहुँचकर ही क्यों नहीं रुक जाता, इन संभाव्य प्रश्नों के समाधान के लिए सांख्य को यह मानना पड़ता है कि प्रकृति की विकास-प्रक्रिया (और विलय-प्रक्रिया भी) सोद्देश्य है। इस उद्देश्य का स्पष्टीकरण सांख्यकारिका में ही किया गया है। वह यही है कि पुरुष के सुख-दुःख-उपभोग या बंध के हेतु ही प्रकृति विकृत होती है। इसके बिना पुरुष को भोग-साधन (शरीर तथा अन्य भोग-सामग्री) जुट नहीं सकती। भोग प्रकृति के विकार का कारक न होकर उसका अंतिम उद्देश्य ही है। उद्देश्य को अंग्रेज़ी में टीलिओलोजीकल कांज़ कहा जाता है और इसकी गणना अरस्तू ने प्रत्येक कार्य के कारणों में ही की है। किन्तु सांख्य सोद्देश्यता को भी चेतनता-निदर्शक नहीं मानता। यह बात सांख्यकारिका में प्रस्तुत किये गये कुछ उदाहरणों से स्पष्ट हो जाती है। जैसे—

वत्सविवृद्धि निमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।
पुरुषविमोक्ष निमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ।।57।।

आदि कारिकायें बताती हैं कि प्रकृति अंधे के समान है क्योंकि उसे अपनी क्रियाओं या उनके उद्देश्यों का ज्ञान नहीं है, जैसे अंधे को रूप, आकार आदि की संवेदना नहीं होती। प्रकृति किसी जानवर के स्तन से झरने वाले दूध के समान भी पूर्णतया जड़ है और उसकी क्रियायें सोद्देश्य और पूर्णतया सफल भी होती हैं। जानवर समझ बूझकर अपने स्तनों में दूध प्रवाहित नहीं करता। जानवर के स्तन पर बछड़े का मुंह लगते ही स्तन में से दूध बहने लगता है जिसे पीकर बछड़े की भूख मिटती और उसका पोषण होता है। इससे सिद्ध होता है कि क्रियाओं की सोद्देश्यता यादृच्छिक भी हो सकती है। यदि विभिन्न क्रिया-प्रक्रियायें और उनके परिणाम एक-दूसरों के साथ कार्यकारणभावापन्न हों तो उनमें सोद्देश्यता दिखायी पड़ सकती है। इसके लिए इनके पीछे किसी चेतना की प्रेरणा मानने की आवश्यकता नहीं है। पीछे प्रकृति के विकास के क्रम-विशेष का निर्देश किया गया। इस क्रमिकता का स्पष्टीकरण यह है कि महत्, अहंकार, तन्मात्र आदि तत्त्व क्रमशः अधिकाधिक स्थूलता की ओर अग्रसर होने वाले तत्त्व हैं। अतः सूक्ष्मतम प्रकृति महदादि क्रम से ही विपरिणत हो सकती है, व्युत्क्रम से नहीं। यदि बुद्धि की अपेक्षया अहंकार अधिक स्थूल है तो प्रकृति अहंकार में प्रथम विपरिणत होकर तदनन्तर बुद्धि में विपरिणत नहीं हो सकती। इस सारे स्पष्टीकरण का तात्पर्य यह है कि प्रकृति, प्रकृति-जनित विश्व, पुरुष तथा उनके अनंत प्रकार के सुखदुःखानुभव तथा इन अनुभवों के अनंत साधन ये सब ऐसे एक वैश्व संस्थान के घटक हो जाते (या होते) हैं कि जिससे ये एक-दूसरे को प्रभावित किये बिना नहीं रह पाते। ऐसा होते हुए भी इन घटकों को इन प्रभावों का, या उनसे प्रभावित होने का, या किसी को प्रभावित करने का, पता नहीं होता।

इस प्रकार सृष्टि-प्रक्रिया का संतोषदायक स्पष्टीकरण, आधुनिक विज्ञान के ढंग से ही सांख्य ने प्रस्तुत कर जड़वाद को लगभग चेतनावाद के समकक्ष ही बना दिया है। लेकिन जड़वाद तब तक पूर्णतया संतोषजनक नहीं माना जा सकता जब तक वह सृष्टि के साथ प्रलय की या भोग के साथ अपवर्ग की अथवा सोद्देश्यता के साथ-साथ उद्देश्य-भेद की भी उपपत्ति प्रस्तुत नहीं करे। यदि प्रकृति का स्वभाव परिणामिता है तो यह स्वभाव प्रकृति में बराबर बना रहना चाहिये। यह कल्पना ही नहीं है कि एक अवस्था तक प्रकृति का विपरिणमन हो और तदनंतर विपरिणमन के विरुद्ध प्रक्रियायें भी प्रकृति में चल पड़ें। इस प्रश्न का अंतिम उत्तर सांख्य ने जिस कारिका में विशद किया है वह इस प्रकार है—

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा, न मुच्यते, नापि संसरति कश्चित्।
संसरति, बध्यते, मुच्यते च नानाऽऽश्रया प्रकृतिः ॥६२॥

इस कारिका के अनुसार पुरुष या उसके जैसा कोई बद्ध होता है और तदनंतर मुक्त होता है, यह विचार ग़लत है। प्रकृति ही स्वयं बद्ध, अर्थात् विश्व के रूप में क्रमशः विकासमान् होती है और विश्व से मुक्त अर्थात् विश्व को व्युत्क्रम से अपने में विलीन कर लेती है। अब प्रश्न यह है कि ये परस्पर विरोधी प्रक्रियायें, जिन्हें सांख्य दर्शन में 'विसदृश परिणाम' एवं 'सदृश परिणाम' ये संज्ञायें दी गयी हैं, कैसे एक के बाद एक ऐसे क्रमिक रूप से प्रकृति में ही घटित होती हैं? इसका उत्तर यही है कि आत्यंतिक भोग के साथ जैसे विराग जुड़ा हुआ होता है वैसे ही सृष्टि-प्रक्रिया अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाने पर, याने जब किसी नये तत्त्व के आविर्भाव की कोई संभावना नहीं रह जाती तब, सृष्टि-प्रक्रिया का विपरिवर्तन होना अनिवार्य है। इसमें कोई अस्वाभिकता नहीं है। जैसे शीत-पेटी आदि में एक थर्मोस्टॅटिक कंट्रोल होता है जो शीतता-उष्णता का स्वयं नियंत्रण करता है वैसे ही प्रकृति की सृष्टि-प्रलय प्रक्रियाएं भी स्वयं नियंत्रित या स्वचालित मानी जा सकती हैं। इसका मतलब यह है कि इन प्रक्रियाओं में सातत्य है, परस्पर विरोध नहीं जैसा कि सामान्यतया समझा जाता है। सृष्टि में ही इस सृष्टि-प्रलय के सातत्य को सापेक्ष रूप में हम देखते हैं। प्राणियों की उत्पत्ति, विकास, विकास की चरमावस्था तथा उसके बाद क्रमिक ह्रास अनिवार्य-तया घटित होते रहते हैं। जो सातत्य विश्व के अन्तर्गत सभी चेतन-जड़ पदार्थों के अवस्थान्तरण में दृग्गोचर होता है उसी को व्यापक रूप से सम्पूर्ण विश्व को या उसके उत्पादक प्रकृति को भी लागू माना जाये तो इस पर कोई आपत्ति नहीं की जानी चाहिये। आधुनिक विज्ञान सृष्टि-प्रलय की समस्या को सुलझा नहीं पाया है। विश्व के मूल द्रव्य से, जो सृष्टि के पूर्व घनतम अवस्था में था, कैसे अकस्मात् सृष्टि का प्रारम्भ हुआ, इस सम्बन्ध में एकाधिक सिद्धान्त अभी चर्चित हो रहे हैं। सृष्टि के बाद प्रलय कैसे घटित होती है इस प्रश्न पर विज्ञान का उत्तर लगभग सांख्य के जैसा ही है। विज्ञान की एक शाखा "थर्मोडायनामिक्स" का एक सुप्रसिद्ध सिद्धान्त बताता है कि विश्व में लगातार क्रियाशील ऊर्जा का निष्क्रिय ऊर्जा या उष्णता में रूपांतरण हो रहा है। यह ऊर्जा-विकिरण की प्रक्रिया जब चरम सीमा को पहुँचेगी तब विश्व निष्क्रिय उष्णता से भर जायेगा जिससे सभी सजीव-निर्जीव प्राणी अपने सभी क्रियाकलापों के साथ समाप्त हो जायेंगे। सांख्य इसी बात को इस प्रकार कहता है कि प्रकृति की विसदृश परि-णामक्षमता जब पार्यंतिक स्थिति को पहुँचकर किसी भी नये तत्त्व का आविर्भाव करने में असमर्थ हो जायेगी तब प्रकृति में सदृश परिणाम-प्रक्रिया का आरम्भ

होगा। यहां सांख्य के इस कथन को ध्यान में रखना चाहिये कि सृष्टि प्रकृति के लिए जितनी स्वाभाविक है प्रलय भी उतनी ही स्वाभाविक है। वास्तव में इन दो प्रक्रियाओं में कोई मूलगामी अन्तर है ही नहीं, जैसाकि सामान्यतया समझा जाता है। सृष्टि के बाद प्रलय, प्रलय के बाद सृष्टि यह क्रम बराबर जारी रहता है। इसमें विस्मयकारक कोई बात नहीं है। अतः प्रकृति के परिणमन के बंध और मोक्ष ये उद्देश्य मानना उचित ही होगा।

इस पर यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि ऊपर कहे मुताबिक यदि विश्वान्तर्गत सभी ऊर्जा का निष्क्रिय ऊर्जा में विकिरण, अर्थात् प्रलय हो जाये तो इस स्थिति के बाद सृष्टि की प्रक्रियां बिना सक्रिय ऊर्जा के कैसे प्रचलित हो सकती है? दार्शनिक भूमिका पर से इस जिज्ञासा का एक सामान्य समाधान यह है कि जैसे सृष्टि के आरम्भ की उत्पत्ति 'बिग बैंग' या भीषण प्रस्फोट के सिद्धान्त की सहायता से प्रस्तुत की जाती है वैसे ही प्रलयोत्तर सृष्टि की भी उपपत्ति प्रस्तुत की जा सकती है। वैज्ञानिक मानते हैं कि विश्व में जितनी भी द्रव्य राशि है वह सब सिमटते-सिमटते जब अपनी पार्यंतिक स्थिति को पहुंचती है तब सम्पूर्ण विश्व लगभग एक बिन्दु का रूप धारण कर लेता है। इस बिन्दु में घनता की पराकाष्ठा होती है। ऐसी स्थिति में इस बिन्दु में अति भीषण प्रस्फोट होता है जो इसमें अन्तर्भूत द्रव्य राशि को अनन्त विश्व में विकीर्ण करने में सहायक होता है। यदि सृष्टि की उत्पत्ति की यह उपपत्ति सही हो तो प्रलय के अनंतर विश्व में विकीर्ण ऊर्जा के घनीभवन के संबंध में सांख्य-सिद्धान्त से जो बात सूचित होती है उसे भी सही मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिये। वह बात यह है कि ऊर्जा-विकिरण की पार्यंतिक अवस्था ही क्रमशः ऊर्जा-संचय की प्रक्रिया के प्रारम्भ का कारण है। यह एक प्रकार का स्वनियन्त्रण है जो क्रियाशील प्रकृति या विश्व के मूल कारण का स्वभाव ही है, या ऐसा भी मान सकते हैं कि ऊर्जा का विकिरण तथा एकीकरण ये दोनों प्रक्रियायें विश्व में साथ-साथ चलती रहती हैं। कहीं विकिरण होता है तो कहीं एकीकरण भी होता रहता है। इसलिए एकबारगी विश्व का पूर्णतया विनाश हो जाता है ऐसा मानने के लिए कोई प्रमाण नहीं है। यदि सृष्टि अनादि है तो वह अनंत भी होनी चाहिये। किन्तु यदि सृष्टि को सादि मानें तो सृष्टि के पूर्वकाल को न हम निष्क्रिय मान सकते हैं न सक्रिय। पीछे विज्ञान के जाड्य सिद्धान्त (लॉ ऑफ इनर्शिया) का उल्लेख किया गया जिसके अनुसार विश्व में गतिमानता जो दिखाई देती है उसे जाड्य का ही लक्षण कहा गया। गति जैसे जाड्य का लक्षण है वैसे ही गति में मात्रा या दिशा का परिवर्तन भी जाड्य का ही लक्षण है, ऐसा वैज्ञानिक मानते हैं। सांख्य का जाड्य-सिद्धान्त वैज्ञानिक जाड्य-सिद्धान्त से कहीं अधिक व्यापक है। जैसा ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, प्रकृति

की प्रक्रियाओं के लक्ष्य-परिवर्तन को भी सांख्य प्रकृति की जड़ता का ही परिचायक मानते हैं। किन्तु क्या हर बात को, जो सामान्यतया चेतना से सम्बद्ध या चेतना की ही अभिव्यक्ति मानी जाती है, जड़ या जाड्य की अभिव्यक्ति मान लेना उचित कहा जा सकता है? चेतना के गुण-धर्मों को जड़ पर आरोपित कर देने मात्र से वे जाड्य के सूचक नहीं हो जा सकते। यदि यह बात मान ली जाये तो जड़-चेतन का भेद ही समाप्त हो जायेगा और संसार में जाड्य ही शेष रह जायेगा। हां, यह बात जानने या कहने के लिए चेतना की आवश्यकता अस्वीकार नहीं की जा सकती। इस पर सांख्य का प्रतिवाद यह होगा कि प्रकृति तथा प्राकृत तत्त्वों एवं उनके क्रियाकलापों में जो सुप्त ग्रहणशील बुद्धि है वही इनकी जड़ता है। इसका मतलब यह है कि अनात्मचेतन ग्रहणशील बुद्धि सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है और वही विश्व के जाड्य की भी निदर्शक है। सांख्य में बुद्धि के लिए 'महत्' शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण विश्व में बुद्धि की व्याप्ति का सूचक माना जा सकता है। ऐसा मानना आवश्यक भी है, भले ही इस तथ्य की ओर बहुत कम विचारकों ने ग़ौर किया हो। यदि विश्व की सभी बातों में बुद्धिरूप तत्त्व समाविष्ट न हो तो विश्व को समझने के विविध शास्त्रज्ञों के द्वारा जो प्रयास किये जा रहे हैं वे सब अर्थहीन तथा निष्प्रयोजन साबित होंगे। यदि विभिन्न वस्तुएं, घटनाएं, तथ्य आदि परस्पर कार्यकारण भाव, प्रयोज्य-प्रयोजक भाव, व्याप्य-व्यापक भाव, आपाद्य-आपादक भाव, पौर्वापर्य, साहचर्य, सामानाधिकरण्य, समकालत्व आदि संबंधों से सम्बद्ध न हों तो विभिन्न शास्त्रों में किया जाने वाला इन विषयों का अध्ययन बिल्कुल अयथार्थ होगा। सभी शास्त्रीय विचारों का यह अनिवार्य सामान्य पूर्वाभ्युगम होगा कि विश्व एक आंतरिक संगति-युक्त संरचना है। ऐसी संरचना को ही कोई भी नियम लागू हो सकता है। जिन प्राकृतिक नियमों के द्वारा विश्व के स्वरूप का वर्णन किया जाता है वे नियम विश्व की बुद्धिगम्य तथा तर्कसंगत संरचना को ही अभिव्यक्त करते हैं।

यदि विश्व और विश्व में घटित होने वाली बातें यादृच्छिक, अनाकलनीय, असंगतिपूर्ण तथा अतर्क्य हों तो इन्हें अनिर्वचनीय समझकर इनके सम्बन्ध में विचार करना ही छोड़ देना होगा। अतः यह मानना आवश्यक है कि विश्व में बुद्धि व्याप्त है, किंतु वह आत्मचेतन नहीं है। मनुष्य की बुद्धि चेतन और आत्म-चेतन दोनों है। इसलिए मनुष्य की बुद्धि को सृजनशील तथा विश्वांतर्गत बुद्धि को ग्रहणशील (पैस्सिव) कहना उपयुक्त होगा। इस ग्रहणशील बुद्धि को ही सांख्यमत में जड़ माना गया है। ऐसी बुद्धि सक्रिय और सोद्देश्य विश्व का निर्माण करे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

आधुनिक विज्ञान ने यांत्रिकीकरण तथा स्वनियंत्रण की प्रक्रिया को बहुत आगे

बढ़ाया है । संगणक विज्ञान ने इतनी प्रगति कर ली है कि अब चतुर्थ स्तरीय संगणक (फोर्थ जनरेशन कम्प्यूटर्स) भी बनने लगे हैं । इनके द्वारा मानवीय विचारों की प्रक्रियाओं को भी संपादित कर लिया जाने लगा है । रोबोट के द्वारा तो अधिकांश चेतन मानवीय क्रियायें करा ली जाती हैं । सम्भव है कि निकट भविष्य के संगणक मानवीय चेतना या मन की पूर्ण प्रतिकृति ही बन सकें । यह सम्भावना सांख्य-सिद्धान्त से सुसंगत ही होगी । यदि विश्व में बुद्धितत्त्व व्याप्त है तो उसकी अभिव्यक्ति जड़ समझे जाने वाले पदार्थों के द्वारा भी होनी चाहिये । केवल इस बुद्धि को उत्तेजित या क्रियाशील करने की आवश्यकता है । वैज्ञानिक परिभाषा के अनुसार केवल एक प्रोग्रामर के रूप में मनुष्य को जड़ यन्त्रों को उत्तेजित या संचालित कर देना ही एतदर्थ पर्याप्त है । विचार कर देखा जाये तो मानवीय अस्मिता या अहंभावना-विरहित मानव-शरीर या मानव का दिमाग भी एक अतीव क्लिष्ट संगणक ही है जिसका संचालन इस शरीर वाला मानव ही करता है ।

अब तक जिन प्राकृतिक विकास-ह्रास-प्रक्रियाओं का कुछ विचार किया गया वे वैश्विक या सम्पूर्ण विश्व से सम्बन्ध रखती हैं । इन प्रक्रियाओं के साथ पुरुष-चेतना का सम्बन्ध घटित होने से जिस वैयक्तिक विश्व की सृष्टि होती है उसका हमें अब संक्षिप्त विचार करना है । महत्, अहंकार, ज्ञानेन्द्रियां कर्मेन्द्रियां, मन, तन्मात्राएं तथा महाभूत ये तत्त्व ब्रह्मांड के घटक हैं । इन तत्त्वों के अंश या प्रतिकृतियां ही प्रत्येक व्यक्ति के शरीर के घटक हैं, जैसे प्रत्येक व्यक्ति की आंख, कान, नाक, त्वचा आदि बाह्येन्द्रियां, मन जैसी अंतरिंद्रिय और हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियां और उसके शरीर के घटक पंचमहाभूत वैश्विक इंद्रियों, वैश्विक महाभूत आदि के ही क्रमशः अंश या प्रतिकृतियां हैं । इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए घर-बार आदि सुख-साधन जुटाकर जो अपना अलग वैयक्तिक विश्व जाने-अनजाने निर्माण कर उसका आजीवन उपभोग करता है वह उक्त वैश्विक तत्त्वों के अंशों से ही बना हुआ होता है । इस प्रकार समष्टि रूप में विश्व एक होने पर भी व्यष्टि-रूप में वह असंख्य होता है । ये व्यष्टि-विश्व व्यक्ति की आत्मा या पुरुष के साथ प्रकृति के सम्बद्ध होने से, याने पुरुष का विश्व के साथ अभेदानुभव करने से, प्रकट होते हैं । समष्टि-विश्व के समान व्यष्टि-विश्व भी सत् है, काल्पनिक नहीं । ये सब व्यष्टि-विश्व पुरुष-प्रकृति के सम्बन्ध समाप्त हो जाने पर समष्टि-विश्व में विलीन हो जाते हैं । यह विलीन होना ही व्यष्टि-विश्व का प्रलय है । यह बात सामान्यानुभव के अनुरूप ही है । मनुष्य का सम्पूर्ण शरीर, मनुष्य के द्वारा निर्मित अन्यान्य अनेकविध छोटी-बड़ी वस्तुएं अन्ततोगत्वा वैश्विक तत्त्वों में ही समा जाती हैं । जब तक पुरुष-चेतना व्यष्टियों में समाविष्ट रहती है तब तक व्यष्टियां

अपनी स्वतंत्र सत्ता बनाये रहती हैं। व्यष्टियों में पुरुष का उलझना या उनके साथ तादात्म्य का अनुभव करना ही पुरुष का बंध है। इस तादात्म्यानुभव के समाप्त होते ही पुरुष बंधमुक्त हो जाता है। इस मुक्ति के साथ व्यष्टित्व भी समाप्त हो जाता है।

प्रकृति की वैश्विक विकास-ह्रास-प्रक्रिया, जिसे सृष्टि-प्रलय के नामों से जाना जाता है, अपने स्वाभाविक जाड्य के अनुरूप बराबर चलती रहती है। इसके लिए पुरुष के सान्निध्य या अन्य किसी कारण की अपेक्षा नहीं होती। इस प्रक्रिया से निर्मित विश्व के साथ पुरुष जब सम्बद्ध होता है तब उसके भोग के लिए उसके अपने वैयक्तिक विश्व की निर्मिति होती है। सांख्यकारिका और उसकी व्याख्याओं में समष्टि-व्यष्टि के भेद का विचार नहीं किया गया है इस कारण सांख्य की अनेक पारम्परिक अवधारणायें असंगत सी हो गयी हैं। पारंपरिक सांख्य पुरुष-प्रकृति-संबन्ध को ठीक तरह स्पष्ट कर पाया है। यहां यह प्रश्न उठता है कि पुरुष स्वयं प्रकृति के साथ (या प्रकृति-निर्मित वैश्विक प्रक्रिया के साथ) सम्बद्ध होता है या प्रकृति ही स्वयं पुरुष के साथ सम्बद्ध होकर तदनंतर अलग हो जाती है? इस प्रश्न से ही सम्बद्ध दूसरा प्रश्न यह उठता है कि पुरुष-प्रकृति-सम्बन्ध का स्वरूप क्या है? क्या अकस्मात् ही यह सम्बन्ध घटित होता और बाद में समाप्त भी हो जाता है? इन प्रश्नों का संतोषदायक उत्तर सांख्यकारिका तथा उसकी व्याख्याओं में नहीं मिलता। एक कारिका में इस सम्बन्ध में एक काव्यात्मक स्पष्टीकरण इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—"रंगस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।"(59)

इसका तात्पर्य यह है कि प्रकृति ही स्वयं पुरुष के अभिमुख या पराङ्मुख होती है। इस संबंध में पुरुष की ओर से कोई पहल या प्रक्रिया नहीं घटित होती। प्राकृत प्रक्रियाओं से पुरुष अभिभूत होता तथा इन प्रक्रियाओं के अलग हो जाने से उनके आक्रमण या बंधन से मुक्त भी हो जाता है। अर्थात् पुरुष का बंध-मोक्ष प्राकृत प्रक्रियाओं पर ही निर्भर करता है। न बंध के लिए न मोक्ष के लिए ही पुरुष स्वतंत्र है। इस बात का स्पष्टीकरण यह है कि जिस अदृष्ट के कारण पुरुष को बद्ध होना पड़ता है वह प्रकृति-जनित बुद्धि का ही धर्म है। यह अदृष्ट ही प्राकृत प्रक्रियाओं में पुरुषाभिमुख्य का निर्माण करता है। इसके फलस्वरूप प्रकृति-पुरुष के बीच जो सम्बन्ध उत्पन्न होता है—जिसके कारण पुरुष के सांसारिक जीवन की वास्तविक प्रक्रिया घटित होती है—वह वास्तव में आभिमानिक या भ्रांति रूप ही होता है। इस पर यह आक्षेप उचित नहीं कि शुद्ध चैतन्य-रूप पुरुष में अभिमान या भ्रांति कैसे विद्यमान होगी? सांख्य को यह बात माननी ही होगी। वेदान्त के समान इस भ्रांति को असत् मानना सांख्य के लिए

तर्कसंगत नहीं होगा। सांख्य के अनुसार तो पुरुष अपने बंध और मोक्ष के लिए पूर्णतया प्रकृति-परवश ही है। इस संबंध में सांख्य की माठरवृत्ति में उल्लिखित निम्न उक्ति विचारणीय है। उक्ति इस प्रकार है—

"नहि भगवतः कपिलस्य मते किमपि कर्तव्यं अनुष्ठेयतया, किंतु सांख्यानां पंचविंशति तत्त्वज्ञानमेव साधर्म्येण वैधर्म्येण च निःश्रेयस हेतुः। उक्तं च—हस, पिब, लास-मोद नित्यं विषयानुपभुंजं कुरु च मा शंकाम्। यदि विदितं ते कपिल मतं तत् प्राप्यसे मोक्षं सौख्यं च।

योगदर्शन में पुरुष को सांख्य के समान पूर्णतया प्रकृति-परवश नहीं माना गया है। (यद्यपि योग ने भी ईश्वर-प्रणिधान तथा ईश्वर-कृपा की पुरुष के बंध से मुक्ति के लिए आवश्यकता स्वीकार की है।) सांख्य के अनुसार मुक्ति के लिए पुरुष का प्रयास कोई मतलब नहीं रखता। बंध के समय बंध और मोक्ष के समय मोक्ष प्राकृतिक नियमानुसार अनिवार्यतया घटित होने वाले ही हैं। पुरुषों के पूर्वसंचित अदृष्ट के अनुसार प्रत्येक पुरुष के व्यष्टि-जीवन के लिए प्रकृति अपनी विकास-प्रक्रिया के द्वारा आवश्यक साधन-सामग्री जुटाती चली जाती है और बाद में इस साधन-सामग्री को अपनी ह्रास-प्रक्रिया के द्वारा अपने में विलीन भी कर लेती है।

संसार का जो दृश्य रूप हमारे सम्मुख उपस्थित है उसका यथार्थ चित्रण सांख्य-दर्शन ने प्रस्तुत किया हुआ है। मनुष्य-निर्मित व्यष्टि-विश्व प्रकृति-निर्मित ब्रह्मांड के अंशमात्र हैं। कुछ समय के लिए इनकी स्वतंत्र सत्ता बनी रहती है लेकिन पुरुष के अदृष्ट के विलय के साथ यह आंशिक सत्ता ब्रह्मांड की व्यापक सत्ता में विलीन हो जाती है। विज्ञान इस व्यापक सत्ता के एक अंतिम घटक या परिणाम के संबंध में ही विचार करता है। ये घटक पंचमहाभूत हैं जिनका अतात्त्विक रूपान्तर व्यष्टि-रूप संसार में हुआ करता है। महाभूतों की उत्पत्ति के पूर्व-कालिक सृष्टि-प्रक्रिया का विचार विज्ञान नहीं करता। लेकिन ये प्रक्रियायें तथा इनसे निर्मित तत्त्व संसार की अवस्थिति के लिए आवश्यक ही हैं। इस कारण सांख्य का एतद्विषयक चिंतन विज्ञान में गतार्थ नहीं हो सकता न ही वह विज्ञान के द्वारा प्रत्याख्यात हो सकता है। विज्ञान को स्थूल विश्व का विचार करते करते सूक्ष्म अणु-विश्व के सम्बन्ध में भी विचार करना आवश्यक प्रतीत हुआ इसीलिए रदरफोर्ड, बोर, थामसन आदि वैज्ञानिकों ने अणुओं के सम्बन्ध में अनुसंधान की शुरुआत की। अणुओं से भी अणुतर या सूक्ष्मतर विश्व के घटक तन्मात्र, महत्, अहंकार आदि तत्त्व हैं जिनके संबंध में सांख्य विचार करता है। यह विचार वैज्ञानिक अनुसंधान का पूरक ही होगा, विरोधक नहीं।

प्रोफेसर कोलोनी, हनुमान नगर, नागपुर

कला का अन्वेष्य–2

प्रोफेसर गोविन्दचन्द्र पांडे के मत की समीक्षा

यशदेव शल्य

पांडेजी ने कला के स्वरूप पर अपनी दो पुस्तकों – **मूल्यमीमांसा**[1] तथा **भारतीय परम्परा के मूल स्वर**[2] के दो अध्यायों में विचार किया है। इन अध्यायों के शीर्षक क्रमशः "सौन्दर्य-बोध और कला" तथा "अनुभूति और अभिव्यक्ति" हैं। इन अत्यंत उत्कृष्ट पुस्तकों के ये दोनों अध्याय इन पुस्तकों के अन्य अध्यायों से बहुत उत्कृष्टतर हैं और कला-विषयक पहले के चिन्तन में महत्त्वपूर्ण योगदान करते हैं। किन्तु इनमें प्रथम लेख का सिद्धान्त हमारे कला-विषयक सिद्धान्त से प्रकटतः विपरीत है और इस प्रकार उसका पूर्वपक्ष प्रस्तुत करता है। जैसा कि इस लेख के शीर्षक से स्पष्ट है, इसमें सौन्दर्य-बोध का कला से विशेष सम्बन्ध देखा गया है। वास्तव में यह सम्बन्ध अभेद का ही देखा गया है, निकटता का नहीं। किन्तु इस लेख को थोड़ा गहराई से पढ़ने पर कोई भी देख सकता है कि यह अभेद-दृष्टि उतनी वास्तविक नहीं है जितनी प्रकट है। इसकी पुष्टि पांडेजी के दूसरे लेख से हो जाती जिसके शीर्षक में "सौन्दर्य" शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। इस पूरे लेख में भी इस पद का प्रयोग केवल एक बार ही हुआ है। यद्यपि इस लेख में भी पांडेजी का प्रतिपाद्य कला की सत्यविषयकता नहीं है किन्तु तब भी इसमें वास्तव में यही प्रतिपादित है। यहां हम कलाविषयक इन लेखों की समीक्षा के द्वारा यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि किस प्रकार कला की सौन्दर्य-विषयकता का सिद्धान्त युक्त नहीं है, केवल उसकी सत्य-विषयकता का सिद्धान्त ही युक्त है। किन्तु प्रयत्न करके भी हम अन्यत्र दुर्लभ उस वैदग्ध्य और अर्थ-गौरव को दिखा पाने में असमर्थ हैं जो इन लेखों की अतिरिक्त विशेषता है।

पीछे छठे अध्याय में हमने इस प्रचलित मत की अनुपयुक्तता देखी कि कला का अन्वेष्य सौन्दर्य है, अथवा यह सौन्दर्य-बोध की पर्याय है, अथवा यह भी कि सौन्दर्य इसका साधन है चाहे साध्य सत्य ही हो।[3] किन्तु जैसाकि पांडेजी के प्रथम लेख के शीर्षक से स्पष्ट है, वे कला को सौन्दर्य-बोध का पर्याय मानते हैं, अथवा सौन्दर्य को कला का अन्वेष्य मानते हैं। अब, यह सौन्दर्य क्या है ? पांडेजी

---

1. "मूल्यमीमांसा," राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1973।
2. "भारतीय परम्परा के मूल स्वर," नैशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1989.
3. महादेवी वर्मा के "दीपशिखा" काव्य-संग्रह की भूमिका का प्रथम वाक्य– "सत्य काव्य का साध्य और सौन्दर्य उसका साधन है।"

के अनुसार इस पद का प्रचलित अर्थ "मन को आकृष्ट करने वाला रूप" कहा जा सकता है। यह रूप दैहिक होने पर पुरुष-स्त्री को प्रायः परस्पर की ओर भोग के लिए आकृष्ट करने वाला होता है किन्तु यह रूप सर्वत्र भोग के लिए आकृष्ट करने वाला दिखायी नहीं देता। उदाहरणतः बहुत सी प्राकृतिक वस्तुएं और बहुत से प्राकृतिक दृश्य भी हमें सुन्दर लगते हैं और इस प्रकार आकर्षित भी करते हैं किन्तु इनका यह आकर्षण भोगार्थक नहीं होता। मानव-शिशु और भाई-बहन आदि भी हमें सुन्दर लग सकते हैं किन्तु ये हमें भोगात्मक रूप से आकृष्ट नहीं करते। इस प्रकार स्पष्टतः सौन्दर्य का भोग से कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। किन्तु इस पर कहा जा सकता है कि, कम से कम कुछ अवस्थाओं में सौन्दर्य का लुभावनापन, उसकी आकर्षकता, भोगपरक होती ही है, इसलिए क्या यह कहना उपयुक्त नहीं होगा कि सौन्दर्य के ये दो सर्वथा भिन्न प्रकार हैं? एक वह जिसकी आकर्षकता भोगार्थक हो और दूसरा वह जिसकी आकर्षकता इस अर्थ से असंबद्ध हो? पांडेजी इसे स्वीकार नहीं करते। उनके मत में भोगार्थकता सौन्दर्य के प्रतिकूल ठहरती है। वे "इस मूल वासना के दमन और उदात्तीकरण से ही सौन्दर्य-बोध और कला-सृजन" की संभावना स्वीकार करते हैं। यह उदात्तीकरण उनके अनुसार प्रकृति का कार्य नहीं होकर संस्कृति का कार्य होता है। (186) इसी विचार का आगे अनुसरण करते हुए पांडेजी सौन्दर्य को "भावना, विवेक, प्रज्ञा, प्रतिभा आदि साक्षात्कारात्मक बुद्धि के गोचर गुणों" में से एक मानते हैं। (187) द्रष्टव्य है कि पांडेजी के अनुसार सौन्दर्य के प्रत्यक्षीकरण के लिए बुद्धि की ये चारों ही ज्ञान-शक्तियां उसी प्रकार अपेक्षित हैं जिस प्रकार धर्माधर्म–ज्ञान के लिए। पांडेजी अपने इस मत के विरुद्ध यह पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं कि प्रकृति में भोगार्थक आकर्षण के लिए सौन्दर्य का 'उपयोग' होता है। रति-काल में मोर के पंखों का और अन्य जीवों में अन्य आकर्षक रूपों का आविर्भाव इसके प्रमाण हैं। इस मत का प्रत्याख्यान करते हुए वे प्रकृतिगत इस प्रकार की संरचनाओं को मात्र भौतिक कहते हैं। "प्रकृतिगत सौन्दर्य" पद उनके अनुसार उसी प्रकार औपचारिक प्रयोग है जिस प्रकार "प्रकृति की बुद्धिमत्ता" प्रयोग औपचारिक है।

यह मत हमें ठीक इस रूप में स्वीकार्य नहीं है, इसका संकेत छठे अध्याय में हमारे ऐन्द्रिय रूपों की रसात्मकता के प्रतिपादन में देखा जा सकता है। किन्तु यहां हम इसके सम्बन्ध में एक दूसरी युक्ति काव्य से ही देना चाहेंगे। कवियों ने सर्वत्र नर-नारी के भोगाकर्षण और उससे गंभीरतर भाव प्रेम का प्रथम निमित्त दैहिक सौन्दर्य को और इस सौन्दर्य के आकर्षण को ही देखा है। स्वयं पांडेजी ने दूसरे लेख "अनुभूति और अभिव्यक्ति" में कहा है कि "विषय-रस तक में वही (ब्रह्मानन्द-रस) है किन्तु वृत्ति-मालिन्य से वह प्रायः आच्छन्न रहता है।"

(106)[4] कला-गत सौन्दर्य भोगार्थक है या नहीं यह एक दूसरी बात है, किन्तु उसके द्वारा निरूपित और वर्णित सौन्दर्य भोगार्थक है या नहीं यह दूसरी बात। पांडेजी की युक्ति है कि हम पुत्री, बहन और माता में भी सौन्दर्य देख सकते हैं, किन्तु वह भोगार्थक नहीं होता। किन्तु इसका उत्तर हो सकता है कि जिस प्रकार पुरुष-स्त्री के सौन्दर्य की भोगार्थकता से भाई-बहन का सौन्दर्य भोगार्थक सिद्ध नहीं होता उसी प्रकार भाई-बहन में दृष्ट सौन्दर्य की अभोगार्थकता से प्रथम सौन्दर्य-दर्शन की अभोगार्थकता सिद्ध नहीं होगी। यहां रवीन्द्रनाथ ठाकुर की **चित्रांगदा** नाटिका उल्लेखनीय है जिसमें चित्रांगदा अर्जुन को अपना "यथार्थ" व्यक्तित्व दिखाने के लिए एक वर्ष के लिए रूप-सौन्दर्य का वरदान मांगती है। यह सौन्दर्य भोगार्थक ही है। अवश्य इससे यह सिद्ध होता है कि सौन्दर्य और भोगार्थकता में अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है, किन्तु यह सिद्ध नहीं होता कि इनमें विरोध-सम्बन्ध है, जैसा कि पांडेजी ने कहा है।

अब यह सौंदर्य क्या है? पांडेजी इसे कम से कम दो प्रकार से परिभाषित करते हैं जिन प्रकारों को परस्पर पूरक भी कहा जा सकता है। इनमें एक परिभाषित शुद्धतः रूप-निष्ठ है और दूसरा भाव-निष्ठ। प्रथम प्रकार की परिभाषा पांडेजी के शब्दों में इस प्रकार है: "ऋजु रेखा, बहुकोण, वृत्त, अंडाकार, परवलय आदि मूल ज्यामितीय संस्थानों में स्वतः सौंदर्य की अनुभूति नहीं होती। सुन्दर प्रतीत होने के लिए सांस्थानिक रूप से विभेदों की ऐसी समन्विति चाहिए जो जटिल होते हुए भी सरल प्रतीत हो, जिसमें देखने वाले की एक भाग को देखने से उत्पन्न शेष की ओर प्रत्याशा अप्रत्याशित से चमत्कृत हो। ऐसा प्रतीत होता है कि सौंदर्यशाली रूपों के सौंदर्य-विधायक तत्त्व उनकी रचना में निहित होते हैं, न कि उनकी प्राकृतिक प्रदत्तता में अथवा तान्मात्रिक विशेषता में।" (187–88) सौंदर्य का यह निरूपण सुन्दर रूपेण दृष्ट विषयमात्र के लिए बहुत उपयुक्त और सम्यक् कहा जा सकता है—अनिर्मित आकृतियों के लिए उतना ही जितना कला-कृतियों के लिए, यद्यपि अनिर्मित आकृतियों के लिए कम। किन्तु पांडेजी का परिभाष्य यहां प्रथम का सौंदर्य नहीं होकर केवल दूसरे का सौंदर्य ही प्रतीत होता है, क्योंकि वे कहते हैं: "सौंदर्य–शास्त्रीय ग्रंथों में रचना-सौष्ठव के तत्त्वों का अनेकधा विश्लेषण किया गया है। .... इस प्रकार के विश्लेषण में एक बड़ी कमी है कि यद्यपि उसके विश्लेषित रूप उपलब्ध सौंदर्य के वर्णन में सहायक होते हैं, स्वयं उनसे सौंदर्य-रचना असंभव है। आलंकारिक सिद्धान्तों के सहारे टुकड़े जोड़कर रूढ़ और नीरस रचनाएं ही बन पाती हैं, मानो वे प्राण-हीन ढांचे

4. ये पृष्ठ संख्याएं उन पुस्तकों की हैं जिनके ये लेख अध्याय हैं।

हों। सौंदर्यशाली रचनाओं में एक अपूर्व और अविश्लेष्य समन्विति होती है जो अवयवों और उनके सम्बन्धों से परे किसी अविभाज्य अर्थ का संकेत करती है। जब नीली रेखा आसन्न पीली रेखा में अथवा कोमल निषाद परवर्ती शुद्ध धैवत में एक नये प्रभाव को व्यक्त करते हैं तो उन्हें 'मूर्तिमान् आकारिक संकेत' कहा जा सकता है। इस प्रकार की अंतर्विभक्त अखंडता और सांकेतिकता के बिना सौंदर्य-बोध संभव नहीं है। जो रूपनिष्ठ गुण सौंदर्य की प्रतीति के हेतु होते हैं वे किसी स्वभावनिष्ठ कारणता से वैसे नहीं होते, अपितु सन्दर्भ विशेष में वे मूर्त्त संकेत बन जाते हैं, अपनी रचनात्मक समग्रता के और उसकी सार्थकता या मूल्य के। अतएव रूप के सुन्दर होने के लिए उसमें रचना-सौष्ठव और सांकेतिकता या व्यंजकता दोनों का अविभाज्य रूप में समावेश होना आवश्यक है।" (189) इसमें अंतिम वाक्य में जबकि रूप मात्र के सौंदर्य का विधान है इससे पहले का और इसके बाद का निरूपण-विवेचन केवल कला-कृतियों विषयक ही है। यहां कहा जा सकता है कि अंतिम वाक्य भी केवल कलाकृतिगत सौंदर्य के संबंध में ही है क्योंकि इसमें रचना-सौष्ठव और सांकेतिकता की बात की गई है, तो इसका समाधान होगा कि अनिर्मित आकृतियों और दृश्यों में भी सौंदर्य का बोध उन्हें रचना-कौशल की व्यंजक रचनाओं में ही रूपान्तरित कर देता है। जहां तक 'व्यंजकता और सांकेतिकता' का संबंध है, वह भी अनिर्मित रूपों का उतना ही गुण कहा जा सकता है जितना निर्मित रूपों का। पांडे जी ने स्वयं भी आगे पंतजी की पंक्ति : "न जाने नक्षत्रों से कौन, निमंत्रण देता मुझको मौन" उद्धृत करके रूप मात्र के सौंदर्य की यह विशेषता कही है। इतना ही नहीं; वे आगे कहते हैं "किन्तु जिस समय हमारी कल्पना व्यावहारिकता अथवा अभ्यस्त रूढ़ियों से मुक्त होकर स्वच्छन्द रूप में विहार करती है उस समय प्रकृति हमारे समक्ष एक अपूर्व "दृश्य" बन जाती है। उसका प्रकृति पक्ष, विकार्य वस्तु-पक्ष, भूल जाता है। उसकी औपादानिकता आकृति के अभिव्यंजन में परिसमाप्त हो जाती है" (191) यह सही है, किन्तु दृश्यों की यह अपूर्वता और व्यंजकता उनकी सुन्दरता का नामान्तर नहीं कही जा सकती। आगे उनके द्वारा उदाहरण रूप में प्रस्तुत "टूटा तांगा, गंदी गली और बुझता सिगरेट" उचित रूप में भी, कल्पना-रूढ़ होने पर निश्चय ही हमें लोकान्तर में प्रतिष्ठित कर देते हैं। किन्तु वे "सुन्दर" पद के किसी अर्थ में "सुन्दर" भी होते हैं, यह कहना युक्ति-संगत नहीं लगता। सौंदर्य भी इसी प्रकार लोकोत्तर लोक का व्यंजक होता है, यह सही है किन्तु यह सही नहीं है कि जो भी इस प्रकार व्यंजक होता है वह सुन्दर होता है। इसी प्रकार यह भी सही है कि गंदी गली या टूटे तांगे की इस व्यंजकता का सफल चित्र "सुन्दर" भी कहा जा सकता है किन्तु स्वयं ये चित्रस्थ रूप सुन्दर नहीं कहे जा

सकते। जहां तक चित्र की सुन्दरता का प्रश्न है, वह उसकी सफल व्यंजकता से भिन्न कुछ नहीं है। ये व्यंग्यार्थ उसी प्रकार चेतना की उर्वरता के सूचक और विपुलता के विधायक होते हैं जिस प्रकार विकल्प-बुद्धि द्वारा आक्षिप्त अथवा विषय-बुद्धि द्वारा प्रत्यक्षीकृत अपूर्व अर्थ होते हैं, और परिणामतः उसी प्रकार मूल्यवान् भी होते हैं। किन्तु ये अर्थ ज्ञान-स्वरूप नहीं होकर अनुभूति-स्वरूप होते हैं और यह अनुभूति मानो चेतना को उसके दूर छूट गए घर का स्मरण सा कराती है। अनुभूतिगत इस अर्थ के स्वरूप और उसकी अभिव्यक्ति का निरूपण पांडेजी ने बहुत विस्तार और बहुत विदग्धता के साथ किया है। "रूप और लक्षण" शीर्षक के अन्तर्गत वे कहते हैं—"अपारदर्शी असांकेतिक रूप अपने में परिसमाप्त लक्ष्य मात्र होता है।...."इसका अर्थ यह नहीं है कि रूप आवश्यकतया किसी बाह्य बिम्ब की अनुकृति होता है। रूप किसी अन्य का प्रतिरूप न होकर स्वयं ही बिंब हो सकता है, किन्तु ऐसी स्थिति में भी उसकी अर्थ-प्रतिबिंबता नष्ट नहीं होती। रूप जिस ओर संकेत करता है वही उसका अर्थ है और उस अर्थ का रूप लक्षण या मूतिमान् संकेत होता है।" (193) रूप को यहां कृत या अकृत दोनों अर्थों में समान रूप से लिया जा सकता है, केवल इसके लिए उसका कल्पनायोजित होना, कल्पनात्मक चित्त में अपूर्व अर्थों की रश्मि-लीला का आलंबन होना अपेक्षित होता है। किन्तु यह रूप ही कला-दृष्टि का विषय, कलाकृति का अनुकार्य और उसका व्यंग्य होता है। इस प्रकार इस रूप को कलात्मक रूप भी कह सकते हैं। इसकी परिभाषा करते हुए पांडेजी कहते हैं: 'रूप की परिभाषा दृश्य सामान्य न होकर मूर्त संकेत या लक्षण करनी चाहिए। **लक्षण एक सांकेतिक व्यापार है जिसके साधक-बाधक के रूप में मेल बेमेल, सुडौल-बेडौल आदि गुण-दोष निर्धारित किये जा सकते हैं। इसमें एक दृष्टि-परिवर्तन आवश्यक होता है: सौन्दर्य का सामान्य रूप नहीं होता, प्रत्येक रूप का सौन्दर्य होता है जो कि उसकी प्रतिविशिष्ट मूर्ति में प्रतीयमान् अर्थ या मूल्य होता है।**[5] किसी भी रूप को एक भाव-व्यंजक लक्षण की तरह प्रस्तुत करना ही उसके सौंदर्य का मूर्ति-विधान है। मूर्त संकेत या "लक्षण" बनते ही वह एक आबदार मोती की तरह किंचित् पारदर्शी अर्थवाही रूप बन जाता है और सौंदर्य-बोध को जन्म देता है"। (194) इसी प्रकार वे आगे कहते हैं: "सौंदर्यानुभूति का विषय व्यंजक रूप या लक्षण कहा जा चुका है और हमारी व्याख्या के अनुसार इसका अर्थ है कि रूप या लक्षण स्वयं मूर्त संकेत बनकर एक रहस्याच्छन्न अर्थ की भावमय प्रतीति करता हुआ उसका प्रकाश-सा प्रतीत होता है।" (198) यहां अंतिम वाक्य द्रष्टव्य है। 'सौंदर्यानुभूति' पद यहां केवल एक पारिभाषिक पद रह जाता है और इसका

5. रेखांकन हमारे द्वारा।

इसके साधारण प्रयोग से कोई संबंध नहीं रहता। रहस्याच्छन्न लोक की भावमय प्रतीति सुन्दर प्रतीति ही हो, यह कोई आवश्यक नहीं है, किन्तु यदि "सुन्दर" को परिभाषित ही इस प्रकार कर लिया जाय तो दूसरी बात है। आगे पांडेजी 'सौंदर्यानुभूति' और 'कलानुभूति' शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची रूप में करते हैं (पृष्ठ-200) जिससे यह स्पष्ट है कि यहां 'सौंदर्य' शब्द का प्रयोग एक प्रचलित परिभाषा के अनुसार हुआ है जिस प्रचलन का मूल कला-समीक्षा का "इस्थेटिक्स" शब्द है। निश्चय ही भारतीय कला-समीक्षा में भी रमणीयार्थता या रस को ही काव्य की आत्मा कहा गया है किन्तु पांडेजी के विवेचन में कला का अनुसन्धेय सत्य ही प्रतिष्ठित होता है जिसे पांडेजी ने उसकी विषयिपरकता-भावपरकता के कारण 'सौंदर्य' नाम दे दिया है। किन्तु नामान्तर के कारण इस विवेचन में यह तथ्य परोक्ष हो जाता है। ऊपर के उद्धरण में रेखांकित वाक्य द्रष्टव्य हैं। वहां सौंदर्य के सामान्य विधायक तत्त्व 'सुडौलपन' और 'मेल' स्वयं लक्ष्य नहीं रहकर अर्थ के प्रापण में उपयोगी के रूप में ग्राह्य होते हैं। यहां एक और वाक्य देखें— "जीवन्मुक्त की संभवतः यह स्थिति हो कि वह समस्त यथार्थगत भावों को रज्जु-सर्पवत् आरोप्य समझता हुआ उनका तटस्थ साक्षात्कार करे। यदि यह सच है तो कला कृत्रिम उपायों से इसी स्थिति को दर्शक तक उपनीत करती हुई मानी जानी चाहिए।" (201) इसी प्रकार "व्यंग्य विषय अनुभूति विशेष का मानस-साक्षात्कार या निमित्त प्रतिभास होता है जो कि प्रत्यक्ष और अनुमान, स्मृति और कल्पना से भिन्न होता है।" (205) यहां व्यंग्य विषय की प्रत्यक्षादि से भिन्नता के प्रतिपादन में इन दो प्रकारों में एक अनुरूपता भी आपादित है जिसको लक्षित करके ही इनमें भेद दर्शाने की आवश्यकता हुई है। यह आधारगत एकता इनकी अर्थवत्ता और अर्थों की सत्यासत्यता में है।

किन्तु वास्तव में इन्द्रिय-गोचर और विकल्प-गोचर अर्थों में तथा भावना-गोचर अर्थों में यह समानता होते हुए भी इनमें मौलिक भिन्नता है जिसे हमने छठे अध्याय में दिखाने का प्रयत्न किया है। किन्तु पांडेजी के निम्न उद्धरण में यह भेद विदग्धतम रूप में विवेचित हुआ है। वे कहते हैं : "भावना एक प्रकार का काल्पनिक अनुसंधान है जो कि अपनी तन्मयता और निमित्तस्फुटता के आग्रह में ध्यान की एकतान प्रतीति के सदृश होता है। विकल्प या अवधारण में चित्त संबंधावगाही और तुलनात्मक होकर इतस्ततः परिस्पन्दित होता है। वह प्रत्यक्ष-गोचर विशेष को सामान्य तत्त्वों में विशेषित और उन तत्त्वों को सम्बंधित कर पुनः एक करना चाहता है। भावना या कल्पना का प्रकर्ष अपने विषय को स्फुट रूप में प्रस्तुत कर एक मानसिक साक्षात्कार या अनुभूति को जन्म देता है। इस आंतरिक अनुभूति का विषय किसी बाह्य रूप का प्रतिबिंब न लग कर स्वयं एक

स्वतंत्र विशेषात्मक अर्थ या बिंब लगता है जिसमें **यथार्थ अनुभव का बेडौल, अस्पष्ट बिखराव, उसका अधूरापन, सँवर जाता है और साफ हो जाता है, और उसका सत्य या मूल्य सम्मुख आ जाता है,** मानो एक तत्त्व प्रकट हो गया हो, एक महत्त्वपूर्ण संभावना का रूप स्पष्ट हो गया हो। इस स्थिति की सघन और प्रकाशमान् चेतना को सत्वोज्ज्वल भाव-परामर्श से अलग करना दुष्कर है।" (207) यहां रेखांकित वाक्य विशेष रूप से द्रष्टव्य है। इसमें यथार्थ अनुभव में ग्राह्य विषय का सत्य स्वयं उस अनुभव के लिए अगम्य किन्तु कल्पनात्मक चेतना :साक्षात्कारी सृजनात्मक प्रतिभा: के लिए गम्य कहा गया है। वास्तव में यथार्थ अनुभवगत विषय अनेक आयामात्मक होता है : वह भौतिक, उपयोगात्मक, तात्त्विक और भावनात्मक: सभी आयामों का केन्द्र होता है। किन्तु किसी भी आयाम का सत्य "यथार्थ-दृष्टि" को सहज प्रकट नहीं होता, उसके लिए वह गुहागत ही रहता है, जिसे वैज्ञानिक, शिल्पी, दार्शनिक और कलाकार "उद्घाटित" करता है। उदाहरणतः "गोधूली के सत्य" को भारतीय संस्कृति से भावात्मक तादात्म्य में अवस्थित, गोधूली से भावोद्दीप्त कल्पना-प्रवण कलाकार का हृदय ही "देख" सकता है और यह सत्य वैज्ञानिक को लभ्य सत्य के तुल्य ही प्रामाणिक किन्तु उससे भिन्न लोकवासी होता है। यहां 'दृश्य" के साथ "कलाकर" विशेषण लगाना इसलिए आवश्यक है क्योंकि इस "अवगमन" का स्फुट ग्रहण अभिव्यक्ति के असाधारण कौशल की अपेक्षा करता है, और अभिव्यक्ति अन्य को संप्रेषण के लिए ही आवश्यक नहीं होती, वह स्वयं अपने को अवगमन के लिए भी आवश्यक होती है, और वास्तव में वह "सत् के आविर्भाव" के लिए भी आवश्यक होती है। ऊपर उद्धरण में "सत्वोज्ज्वल" पद विशेष रूप से ध्यातव्य है, क्योंकि "सत्व" ज्ञानात्मक गुण है।

किन्तु पांडेजी का लेख कलाविषयक केवल इस प्रश्न तक सीमित नहीं है। उन्होंने अत्यन्त सम्यक्, स्फुट, परिमित और विदग्ध भाषा में 39 पृष्ठों के 16 उपशीर्षकों में विभक्त इस लेख में कला के प्राय: सभी पक्षों का विवेचन प्रस्तुत किया है। ऊपर उद्धृत विचार केवल 14 उपशीर्षकों में विभक्त विवेचन में से लिये गये हैं। आगे "कलात्मक मूल्य के आयाम" शीर्षक से पांडेजी ने "कला कला के लिए" मत पर विचार किया है। सर्वप्रथम, इस पद का क्या तात्पर्य है? यह सिद्धान्त क्या है? पांडेजी के अनुसार "किसी कला-कृति का विशिष्ट कलात्मक मूल्य उसके चमत्कार-विधायक रचनात्मक तत्त्वों पर निर्भर करता है। किसी कृति की निर्दोष रचना से चमत्कृत होकर हम उसे अपने ढंग की अनूठी मान सकते हैं। रोमन कवि कुतुल्लुख़ की शृंगारिक कविताएं अपने ढंग की बेजोड़ हैं,

अपनी अनुभूति और परिधि के अंदर उनकी रचनात्मक कल्पना गुण-संपदा से आढ्य और निर्दोष है। किन्तु यह कमाल या सिद्धि (परफैक्शन) कला के मूल्य के विशिष्ट आयाम की होती हुई भी जिन जीवन-मूल्यों के संदर्भ में विग्रहवती हुई है उन्हें सत्य की दृष्टि से गंभीर अथवा नैतिक दृष्टि से उदात्त या प्रशस्त नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत कबीर की कविताओं में कलात्मक रचना के दोष होते हुए भी उनके व्यंग्य अर्थ का मूल्य उन दोषों को गौण बना देता है।" (211) "कला-मूल्यों की विशुद्धता को ही उनका उत्कर्ष मानने वाले "कला के लिए कला" के पक्षपाती और कला को जीवन-सम्बंधी मूल्यों का निरूपण और व्याख्या मानने वाले "जीवन के लिए कला" के पक्षपाती दोनों ही कला की उभयात्मकता को ठीक से नहीं देखते। कोई कृति कला-कृति है अथवा नहीं यह एक प्रश्न है, "कोई कलाकृति उत्तम है अथवा नहीं" यह दूसरा प्रश्न है।....जातीय गुणों के समान कलात्व के अवच्छेदक गुण स्वतः सत्ताशाली नहीं होते। वे कलाकृति की विशिष्ट विषय-वस्तु का आश्रय लेकर ही व्यक्त होते हैं और इस प्रक्रिया में अपने आश्रय से उपरक्त होकर ही स्वरूपवान् बनते हैं। यह विषयवस्तु स्वयं मूल्यात्मक होती है, चाहे ये मूल्य स्वयं कलात्मक हों अथवा तद्व्यतिरिक्त। कलात्मक अथवा अन्य मूल्यों को अपना विषय बनाती हुई कला के बोध की कलायामिक विशेषता और उसकी अन्तर्दृष्टि, उसका "रूप" और उसका "अर्थ" दोनों एक ही अनुभूति में नीर-क्षीर के समान मिले-जुले रहते हैं। **कोमेडिया या रामचरितमानस** में क्या यह स्पष्ट नहीं होता कि उनकी रचनागत उपलब्धि उनके "भाव" से सारवान् और समुज्ज्वल बनती है?" (212–13) "कला कला के लिए अथवा कला जीवन के लिए?" इस प्रश्न द्वारा प्रस्तुत समस्या का इसमें बहुत ही युक्त समाधान है। किन्तु रूप और अर्थ एक ही अनुभूति में "नीर-क्षीर के समान मिले-जुले होते हैं" कहने के बजाय यह कहना संभवतः अधिक उपयुक्त होगा कि ये वर्ण और आभ के समान पृथक् अवधार्य किन्तु अवियोज्य होते हैं। वास्तव में कलायामिक अर्थ और तद्व्यतिरिक्त अर्थ में वही भेद है जो "सत्य-निष्ठा" और "सत्य की परिभाषा" में। जिस प्रकार नैतिक उपदेश छन्द-बद्ध होने पर कविता नहीं हो जाते उसी प्रकार रचना के सिद्धान्तों के अनुसार रचित पद "चमत्कार-विधायक रचना-तत्त्वों" के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए भी काव्य नहीं कहलायेंगे। इस प्रसंग में स्पष्टीकरण के लिए मैथिलीशरण गुप्त के दो पद सहायक हो सकते हैं। "कला कला के लिए" सिद्धान्त के विरुद्ध उनका एक पद है "केवल मनोरंजन ही न कवि का कर्म होना चाहिए, उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।" इसमें कला को "मनोरंजक रचना" के रूप में ही देखा गया है और "उचित उपदेश का प्रयोजन सिद्ध करने" की मांग की गई है। किन्तु न तो

"मनोरंजक रचनाएं" उचित रूप से कलाकृतियां होती हैं और न "उपदेश का प्रयोजन सिद्ध करने वाली" रचनाएं। इससे सर्वथा भिन्न प्रसंग में किन्तु इस प्रसंग का सही निदर्शक उनका एक कथन है : "राम, तुम्हारा चरित स्वंय ही काव्य है, कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है।" अब, राम के चरित की काव्यमयता सचमुच अद्‌भुत और अद्वितीय है, क्योंकि उसमें सत्य जीवन में और जीवन से महत् बनता है। और यह जीवन इतनी गहराई से अनुभूति-कथा बन गया है कि इसकी विवरणात्मक प्रस्तुति संभव ही नहीं रह गई है। पांडेजी का भी वास्तव में "रूप और अर्थ को एक ही अनुभूति में सम्मिलित" कहने का यही अभिप्राय है, शेष केवल कला-विषयक प्रचलित धारणा की पदावली का निर्वाह है। हमारी यह व्याख्या वास्तव में उनके मन्तव्य का ही स्पष्टीकरण करती है। आगे पांडेजी इसी बात को और भी सुन्दर ढंग से कहते हैं"काव्यादि न्यूनाधिक सादृश्य के द्वारा : कुछ नहीं तो, पदों और वाक्यों की वाचकता के द्वारा : बाह्य यथार्थ का उल्लेख करते हैं परन्तु वे अपने व्यंग्य मूल्य को अपने अन्दर ही प्रदर्शित करते हैं। काव्यादि के कल्पित रूप या बिंब को ऐसा "मूर्त संकेत" कहा गया है जो बाह्यार्थ का वाचक होते हुए भी स्वंय अपने स्वरूप-सिद्ध मूल्य का संकेत होता है।" (213) और आगे, "अमूर्त रूप कलाओं, नृत्य और विशेषतः संगीत के विषय में ऐसा लगता है कि उनकी अनुभूति केवल कलात्मक मूल्यों की ही अनुभूति होती है।.......... वस्तुतः संगीत को निरूपण की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसके तत्त्व भावों का उद्‌बोधन साक्षात् रूप से ही कर सकते हैं। यों कहा जा सकता है कि संगीत चित्त की अन्तस्सत्ता को व्यक्त करता है। विशुद्ध, संदर्भ-रहित संगीत भी रूप-सौष्ठव और रचना-कौशल के साथ एक अन्तर्मुख बोध व्यक्त करता है जिसका साम्मुख्य स्वयं एक मूल्य है।" [214] हमने इस बोध को भी पिछले अध्याय में अर्थान्वित भावना का विषयि-आत्मक बोध कहा था। यहां महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पांडेजी कला को रूप मात्र स्वीकार नहीं करते। वास्तव में कला में रूप और अर्थ का सम्बंध बहुत कुछ भाषा में शब्द और अर्थ के सम्बंध से तुलनीय है। शब्द और अर्थ पृथक्तः अवधार्य होते हुए भी वस्तुतः वियोज्य नहीं होते। अब, ऐसा भी होता है कि हम किसी भाषा के प्रयोग को शब्द-बहुल और दूसरे को शब्द-लघु अथवा अर्थ-विपुल प्रयोग कहते हैं, किसी को ललित पदात्मक और किसी को कर्कश कहते हैं, किन्तु वास्तव में इन भेदों में ऐसा नहीं होता कि अर्थ-पक्ष के एक ही रहते केवल शब्द-पक्ष ही भिन्न होता है, ये दोनों पक्ष समान रूप से भिन्न हो जाते हैं। यही बात कला में है। "कला कला के लिए" तभी होती है जब कलाकार बोध और दृष्टि में दरिद्र होता है, अथवा अनुभूति में निर्जीव होता है।

केशवदास केवल **रामचरित मानस** लिखने में ही असमर्थ नहीं थे वे कवितावली लिखने में भी असमर्थ थे, और इसी प्रकार तुलसीदास **रामचन्द्रिका** लिखने में "असमर्थ" थे। तुलसीदास की यह "असामर्थ्य" चमत्कार उत्पन्न करने की असामर्थ्य नहीं थी बल्कि अपनी दृष्टि में दरिद्र होने की असामर्थ्य थी। इस प्रसंग में पांडेजी का एक और वाक्य उद्धृत कर हम इससे आगे बढ़ेंगे। वे कहते हैं "कला का मूल्य न उत्तेजना में है, न मनोरंजन या दुःख-विनोदन में, न तत्त्व-प्रतिपादन, शिक्षण अथवा प्रचार में। कला के मूल्य का "अथ" है रचना की अपूर्वता और "इति" है मानवीय आत्मसाक्षात्कार।" (219) द्रष्टव्य है कि किसी भी वस्तु के स्वरूप में ये पक्ष : अथ और इतिः परस्पर वियोज्य नहीं होते, ये केवल उसके अस्तित्व में ही वियोज्य होते हैं।

यहां अन्त में इस उद्धरण में परिभाषित कला के इस "इति" पक्ष के सम्बंध में हम दो शब्द कहना चाहेंगे। यों "आत्म-साक्षात्कार" का अर्थ बहुत साधारण भी हो सकता है जिसमें आत्मचेतन चेतना का कोई भी व्यापार आत्मसाक्षात्कारात्मक कहा जा सकता है। विषयित्व में आत्मचेतना, अर्थान्वित भावना का बोध, ये सब तो और भी अधिक इस निरूपण के अधिकारी हो जाते हैं। किन्तु पांडेजी का अभिप्राय यहां इससे गुरुतर प्रतीत होता है। इससे पहले वे रस के स्वरूप का विवेचन करते हुए कहते हैं : "रस स्वयं चेतना का आत्म-परामर्श है, भाव नहीं है, भाव उसका विषय और उपाधि होता है। भाव चित्त की अर्ध आत्म-निमग्न, आत्मोल्लेखी अवस्था है, किन्तु अविद्यावश परिमित अन्धकार और जाड्याभिभूत विषय के आध्यासिक सम्बंध के रूप में वह प्रकट होता है। इस समस्त स्थिति के एक मनोगत बिम्ब में विषयि भाव से, जो कि एक प्रकार से विषय का चिद्ग्रास या जाडयनिरास है, चित्त में आत्मा और उसकी स्थिति के प्रति एक द्रष्टा का भाव उदित होता है जिससे अविद्यावरण का तात्कालिक भंग होता है। इस निरावरण प्रतीति में आत्मांश का भान चिदानंद की सात्त्विक स्फूर्ति और स्थित्यंश का भाव उसकी भावमय उपाधि होती है।" (218) इस सब के तात्त्विक पक्ष के सम्बंध में हमें यहां कुछ नहीं कहना है क्योंकि उसके लिए विस्तृत विवेचन की अपेक्षा होगी, जो यहां प्रासंगिक नहीं होगा। हमें यहां केवल इसके कला विषयक पक्ष के सम्बंध में कहना है कि यह उस पर लागू नहीं होता। किसी कविता, कहानी या नाटक में, अथवा चित्र या राग में कलाकार की चेतना का निरूपण "चित्त में आत्मा और उसकी स्थिति के प्रति एक द्रष्टा का भाव" के रूप में किसी भी प्रकार से युक्त नहीं लगता। एक सम्मुख स्थित व्यक्ति अथवा दृश्य की चित्र-रचना में निरत चित्रकार की चित्त-स्थिति को लें। निश्चय ही वह चक्षु और विकल्प-

बुद्धि को प्रस्तुत दृश्य मात्र को नहीं देखता। दूसरे शब्दों में, वह विषयनिष्ठ नहीं होता बल्कि उसके "परे" और "भीतर" देखता है जिसका निरूपण "मनोगत बिंब में विषयिभाव" इस प्रकार पूर्णतः उपयुक्त और अत्यधिक अर्थगर्भित है। किन्तु इसे "आत्मा के प्रति द्रष्टाभाव" कहने का कोई औचित्य दिखाई नहीं देता। इसमें आत्मा का कोई भान होता है, ऐसा कहना युक्त प्रतीत नहीं होता, उसके प्रति द्रष्टाभाव होता है यह कहना तो युक्तता से और भी अधिक दूर की बात लगती है। यहां पांडेजी यह तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त के प्रभाव में लिख रहे हैं जिससे कला-सर्जन या कलात्मक अनुभूति की वास्तविक स्थिति ओझल हो गई प्रतीत होती है। वास्तव में कला एकमात्र ऐसा क्षेत्र है जिसमें मनुष्य का आवेगात्मक-भावनात्मक जीवन निर्बाध स्वीकृति पाता है और निजी अर्थ तथा मूल्य के बोध में उन्मीलित होता है। अन्यथा कर्म, विज्ञान, धर्म और दर्शन किसी भी क्षेत्र में उसके लिए स्थान नहीं है। निश्चय ही धर्म-नीति और तत्त्व-बोध इस चित्त-भूमि को समृद्ध और उज्ज्वल बनाते हैं और अन्तस् की उज्ज्वलता भावना के अर्थों में उन्मीलन के लिए अनिवार्यतः अपेक्षित होती है, किन्तु उसका अनुसन्धेय स्वयं भावुक चित्त का अर्थात्मक उन्मेष ही होता है आत्मा के प्रति द्रष्टा-भाव की सिद्धि नहीं। यहां मिर्ज़ा ग़ालिब का स्मरण स्थाने होगा जिसका जीवन केवल भावनाओं के ज्वार में तपना और अद्भुत समृद्धिपूर्ण रूपों-आकृतियों में ढलना था। ऐसा नहीं है कि ग़ालिब अपवाद हैं, वे केवल एक स्पष्ट और प्रकृष्ट उदाहरण हैं। बहुत कुछ ऐसे ही उदाहरण निराला और मीरा को भी कहा जा सकता है। मीरा और ग़ालिब में अन्तर केवल आलंबन का है और उसी रूप में चित्त-वृत्ति का भी, किन्तु चित्तवृत्ति के रूप का नहीं। इसलिए यदि "रस चेतना का आत्मविमर्श है और भाव उसकी उपाधि" तो काव्य का लभ्य रस नहीं है जो शुद्ध चिद्भौमिक है बल्कि भाव ही है जो उपहित चिद्भौमिक : चित्त भौमिक : है। किन्तु यदि रस भाव की वह पराकाष्ठा है जिसमें परिमित अहंकार की परिधियां निमज्जित हो जाती हैं, तो वही काव्य तथा अन्य कलाओं का लभ्य है।

\+ \+ \+

कलाविषयक पांडेजी के दूसरे लेख का संदर्भ कला का स्वतंत्रतः स्वरूप-विवेचन नहीं होकर कला-विषयक भारतीय परम्परा का विवेचन है। किन्तु पांडेजी का परम्परा का विवेचन कभी भी उसका "इतिवृत्त" या "इत्युक्त" प्रस्तुत करने के रूप में नहीं होता बल्कि उसमें निहित दृष्टि और अनुभूति का सृजनात्मक आत्मसात्करण कर उसे समकालीन पदावली में प्रस्तुत करने के रूप में होता है। उदाहरणतः अन्यों के द्वारा किये गये रस-विवेचन के सम्बंध में वे कहते हैं "यह सही है कि कुछ विद्वानों ने उसकी शास्त्रीय चर्चा को फिर से प्रस्तुत करने का

श्लाघनीय प्रयत्न किया है किन्तु उसके अभी पुरानी पारिभाषिकता के दुर्ग से न निकलने के कारण इसको एक जीवन्त प्रत्यय के रूप में प्रस्तुत किया जा सका है, यह कहना कठिन है।" (102) पांडेजी यह सहज रूप से ही करते हैं इसलिए इसमें उनके कम या अधिक सफल होने की बात नहीं है। परम्परा उनके लिए इतिहास नहीं है, वह उनके लिए जीवन्त वर्तमान है। अस्तु।

इस लेख का शीर्षक "अनुभूति और अभिव्यक्ति" है और इसमें उन्होंने कला को सौन्दर्यविषयक नहीं देखकर सत्यविषयक ही देखा है: अनुभूतिगत सत्यविषयक: और इस प्रकार वे इस लेख में हमारे दृष्टिकोण के बहुत समीप हैं। इस प्रसंग में उन्होंने वेद और उत्तरवर्ती बौद्ध काव्य की चर्चा की है जिनका अभिव्यंग्य सौन्दर्य नहीं होकर सत्य ही हो सकता था। कला-विषयक अपने स्वतंत्र विचार के प्रसंग में भी उन्होंने इस लेख में, एक अपवाद को छोड़कर, कहीं "सौन्दर्य-बोध" पद का प्रयोग नहीं किया है। उदाहरणतः रस-विवेचन के प्रसंग में वे कहते हैं "लोकानुकृति-रूप नाट्य के द्वारा अर्पित अनुभूति यदि लौकिक जीवन के भावगत सत्य को ग्रहण नहीं करती तो उसकी मूल्यवत्ता का एक आयाम, जो कि उसकी पुरुषार्थकता है, वह नष्ट हो जाएगा। कला जिस सत्य का अनुसंधान करती है वह संबंधात्मक सत्य नहीं है, वह प्रतिविशिष्ट तथ्य का सत्य है। वह तर्क-गोचर न होकर भाव-गोचर है।"(105) आगे रस के सम्बंध में वे कहते हैं "रस के स्वरूप का वर्णन साहित्यिक मूल्य, मनोवैज्ञानिक तत्त्व एवं आध्यात्मिक तत्त्व के रूप में किया गया है। साहित्यिक मूल्य के रूप में एक विशिष्ट आधुनिक आलोचक ने रस को कृति का संपूर्ण प्रभाव कहा है। उसे कृति का असंलक्ष्यक्रम अखंड व्यंग्य अर्थ कहा जा सकता है, जिसमें उसके सभी अंशों की सांकेतिकता उपचित होकर एक संपिंडित भाव संप्रेषित करती है। मनोवैज्ञानिक तत्त्व के रूप में रस को मतभेदपूर्वक उपचितभाव, अनुकृत भाव, व्यक्त एवं चर्चित भाव, कहा गया है। इस स्तर पर इसीप्रकार रस को सुखात्मक, सुख-दुःखात्मक, अथवा सुख-दुःख-मोहात्मक बताया गया है। किन्तु यह स्मरणीय है कि वस्तुतः उद्‌बुद्ध या उत्पन्न न होकर केवल व्यंग्य होता हुआ भाव स्वयं मनोवैज्ञानिक यथार्थ न होकर तदाकारक संप्रेषणीय अर्थ ही ठहरता है।" (106) 'रस' का यह अर्थ इसके परम्परागत अर्थ से कुछ भिन्न है और यह कला की हमारी परिभाषा "विषयी का विषयि-प्रत्यय के रूप में अवगमन" से शब्दशः मिलता है। इसी प्रकार वेद की काव्यमयता और उस काव्यत्व के स्वरूप का विवेचन करते हुए वे उसकी विधि-वाक्यता (तथा ज्ञापक वाक्यता) का निराकरण कर और अपौरुषेयता की अप्रासंगिकता बताकर कहते

हैं : "उनमें जो विशेषता लक्षित होती है वह तो उनकी अनेक स्तरीय व्यंजकता है जो कि उत्तमोत्तम काव्य का लक्षण कहा जा सकता है। वेद में काव्य की मूलभूत शक्ति, साक्षात् ज्ञान और मनीषा को एकात्मक माना जाता था।..........मानव कवि दिव्य कवि का मर्त्य प्रतिनिधि था। साक्षात्कार, सर्जन-शक्ति, रचना और छंद ये वस्तुतः दिव्य चेतना की संपत्ति हैं। देवताओं को कवि, द्रष्टा और रूप-निर्माता माना जाता था। मनुष्य देवताओं का अनुकरण ही कर सकता था, शब्द-साम्राज्य में स्रष्टा का पद ग्रहण कर सकता था। किन्तु कवि जिसकी सृष्टि करता है, वह देवेषित होने के कारण प्रामाणिक अथवा सत्य-संहित होना चाहिए।" (108) वैदिक काव्य का यह अत्यधिक समीचीन और अन्तर्दृष्टिपूर्ण निरूपण है। किन्तु जो तत्त्व वेद को आदर्श काव्य बनाता है वही लोक में भी काव्य का आदर्श होगा। पांडेजी ऐसा ही मानते हैं इसमें कोई संदेह नहीं है। किन्तु तब उनके अनुसार काव्य का अन्वेष्य सौन्दर्य नहीं ठहरता, सत्य और उसके साथ तादात्म्य ही ठहरता है।

किन्तु पांडेजी का यह लेख कला-निरूपण तक सीमित नहीं है। इस लेख में उन्होंने अनुभूति और अभिव्यक्ति के स्वरूप का प्रत्यभिज्ञा दर्शन तथा भर्तृहरि के भाषा-दर्शन की पृष्ठभूमि पर अत्यन्त सूक्ष्म और गहन विवेचन किया है। किन्तु यह विवेचन जबकि तात्त्विक संदर्भ में: चैतन्य के जगत्-रूप में आविर्भाव के प्रसंग में: बहुत उत्कृष्ट है, कला के संदर्भ में यह बहुत प्रासंगिक नहीं प्रतीत होता। किन्तु पांडेजी कला को इसी संदर्भ में देखते हैं जिससे इस अध्याय में उनका कला का विवेचन कलात्मक अनुभव से कुछ दूरवर्ती प्रतीत होता है। उदाहरणतः नाटक के सम्बन्ध में वे कहते हैं: "नाट्य के संदर्भ में रस की कल्पना उसकी अनुभूति-रूपता को स्पष्ट करती है। नाट्य लोकानुकृति है, लोक-जीवन के अनुभवों में व्यासक्त पात्रों की मनोदशा के माध्यम से आत्मसाक्षात्कार ही उसमें रस की प्रतीति है। इसमें चेतना की आत्मविश्रांति और भाव-सत्य की साक्षिता, दोनों ही युग-नद्ध रहते हैं।" (104) इसमें "आत्मसाक्षात्कार" पद में "आतमा" पद विषयिता मात्र का वाचक भी हो सकता है, किन्तु संभवतः ऐसा नहीं है। यदि है तो यह प्रयोग भ्रामक प्रतीत होता है। "विषयिता" के साथ "आत्मसाक्षात्कार" पद-प्रयोग में 'आत्मा' पद अहं-प्रत्यय अथवा उसके द्वारा निर्दिष्ट चित्स्थिति का वाचक ही प्रतीत होता है, शुद्ध आत्म-चैतन्य का नहीं, जो यहां पांडेजी को अभिप्रेत प्रतीत होता है। अगले वाक्य में 'भाव-सत्य' पद का प्रयोग है जो हमारे प्रयोग के अनु-रूप है। किन्तु इसमें चेतना की 'आत्म-विश्रांति' पद का प्रयोग है जो न नाट्य-रचना में चेतना की स्थिति कही जा सकती है और न नाट्य-दर्शन या काव्यास्वादन में। कला में चेतना सृजनात्मक, उन्मेषात्मक और

सक्रिय होती है, एक प्रकार से विषयोन्मुख भी, चाहे यह उन्मुखता विषयानुबन्धात्मक नहीं होकर भावानुबंधात्मक ही होती है।

संभवतः पांडेजी इस लेख में पूर्णतः स्वतंत्र रूप से विचार नहीं कर रसवाद की अभिनवगुप्त-प्रतिपादित परम्परा को सृजनात्मक रूप में व्याख्यायित करते हुए प्रस्तुत कर रहे हैं। उस दृष्टि से देखने पर उनके इस लेख का महत्त्व और भी बढ़ जाता है क्योंकि इसमें उन्होंने भारतीय संस्कृति के मूल-भाव-बोध में प्रतिष्ठित होकर प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की पृष्ठभूमि में कला के स्वरूप का विवेचन प्रस्तुत किया है, जो विवेचन विवरणात्मक नहीं होकर सृजनात्मक है। वास्तव में संस्कृति के संदर्भ में जो उन्होंने कला के सम्बंध में कहा है वह उसके सम्बंध में सही हो या नहीं हो उनके इस लेख के सम्बंध में अवश्य सही है। उनका कहना है "यदि संस्कृति को आत्मा का व्यक्त ऐतिहासिक रूप कहा जाय तो कला और साहित्य संस्कृति का वह तत्त्व है जिसमें वह अपनी अव्यक्त शक्ति को अखंडतया प्रतिबिंबित करती है और साथ में इस प्रतिबिंब के मूल्य को भी प्रतिबिंबित करती है।" (102) विज्ञ पाठक पांडेजी के इन दो लेखों में सहज ही देख सकते हैं कि भारतीय संस्कृति की अन्तर्निहित शक्ति किस प्रकार अखंडतया प्रतिबिंबित हुई है। इन लेखों में अभिधात्मकतया जितना उक्त है उससे कहीं अधिक व्यंजनात्मकतया संकेतित है।

अब हम इस दृष्टि से उनके कला विषयक प्रतिपादन को प्रस्तुत करेंगे। सर्वप्रथम, अभिधानात्मक रूप से व्यापारित विकल्प—बुद्धि और व्यंजनात्मक रूप से व्यापारित कला-बोध का भेद बताते हुए वे लिखते हैं: "चेतना के आत्मपरामर्श की सात्त्विक उपाधि ही उसका व्यंजक संकेत होती है और व्यंग्य होती है उसकी सविशेष एषणीयता। विश्व की अभेदमूलता एवं प्रतीति मात्र की आत्मविषयता का यही तात्पर्य है।" (97) इन वाक्यों में उपनिषद् के "रसो वै सः" आदि तथा "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" मंत्र पृष्ठभूमि में हैं और उनका गंभीर अभिप्राय कितने सहज और समग्र रूप में प्रस्तुत हुआ है यह देखा जा सकता है। इसी क्रम में आगे वे अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति, जो कला है, के सम्बंध में कहते हैं: "आत्मपरामर्श ही मौलिक अनुभूति है जिसमें अपनी अभिव्यक्ति अपने लिए होती है। उपाधि एवं संकेत के भेद से अनुभूति में तनुता एवं सघनता एवं अभिव्यक्ति-वैचित्र्य सम्पन्न होते हैं। सात्त्विक और अन्तर्मुख मनोवृत्ति में अपने अनुरूप प्रस्फुट विषय की उपलब्धि से जिस सघन आत्मानुभूति का सूत्रपात होता है वही काव्य और कला की प्रेरणा बनती है।" (98)

"ज्ञान में स्व तिरस्कृत रहता है, कर्म में स्व और विषय का सम्बन्ध सिद्ध न होकर साध्य बन जाता है। स्वरूपतः भाव ज्ञान की अस्वस्थता एवं कर्म की असिद्धता से मुक्त होता है। उसमें विषय मानो आत्मा की खोज को साकार करता है।" (99) ज्ञान में वस्तुतंत्रता आकांक्ष्य होती है, इसलिए उसमें "स्व" केवल आवरक के रूप में ही देखा जाता है और कर्म के लक्ष्य-सिद्धिपरक होने से विषय भविष्य में साधना-साधन के परिणाम के रूप में प्राप्य होता है, केवल कला में "स्व" और "विषय" समंजस और समान रूप से केन्द्रस्थ होते हैं। आगे वे इसका स्वरूप इस प्रकार निरूपित करते हैं: "अनुभूति न तटस्थ ज्ञान या स्मृति है, न मात्र भावोत्तेजना या सुख-दुःख का अनुभव। किन्तु भाव-संस्कारित हृदय की अवस्था-विशेष में आत्म-प्रतीति की सघनता ही अनुभूति है। सामान्यतया "रस" शब्द से इस प्रकार की अनुभूति ही अभिप्रेत है।" (104) स्पष्टतः इसमें रस की आस्वाद्यता विवक्षित नहीं हो सकती, इसमें रस "भाव-सत्य की साक्षिता" का वाचक ही हो सकता है।

कलात्मक अनुभव की "अलौकिकता" किन्तु तब भी कला के "जीवन का दर्पण होने" के दो विपरीत विचारों में किस प्रकार आधारगत एकता है इसका निरूपण उन्होंने इस प्रकार किया है: "रति, शोक आदि परिमित अहंकार से मानसिक स्तर पर उत्पन्न होते हैं। उनके कारण उपस्थित होने पर उस परिस्थिति में कर्मात्मक प्रतिक्रिया प्रधान हो जाती है। भाव की सघनता का अवसर ही नहीं उत्पन्न होता। काल्पनिक विभावादि से उद्‌बुद्ध भाव अनुसन्धान-काल में सघन होकर सविशेष आत्मप्रतीति की उपाधि बनता है। कल्पनामूलक भाव का सम्बन्धी होना रस को अलौकिक बनाता है। किन्तु इस कल्पना में लोक-सिद्ध मानवीय स्वभाव और स्थितियों का सार संग्रहीत होने के कारण अभिव्यक्ति में अलौकिक होने पर भी भावोपाधिक रस लोक के सत्यांश से विच्छिन्न नहीं रहता।" (105) यहां रति, शोक आदि के साधारण चित्त-वृत्ति-रूप और इनके रसात्मक रूप में अन्तर का तथा सृजनात्मक कल्पना द्वारा यथार्थ के तत्त्व-साक्षात्कार का यह निरूपण अपनी स्फुटता, लाघव और सम्यक्ता में अद्वितीय है। इसमें अत्यन्त विस्तृत बात इतने थोड़े शब्दों में, किन्तु तब भी एक भी पक्ष छोड़े बिना जैसे कह दी गई है वह अपने आप में एक चमत्कार है। भाव का काल्पनिक विभावादि से उद्‌बोध, उसका सविशेष आत्म-प्रतीति की उपाधि बनना, कल्पना का यथार्थ का सार-संग्राही होना ये तीनों अत्यधिक अर्थ-गर्भित पद-प्रयोग हैं। रति, शोक आदि का अहंकार से उत्तीर्ण चेतना में भाव बनना और तब भी आत्म-प्रतीति की (आत्मा की नहीं) सविशेष उपाधि बनना कलात्मक अनुभव का यह निरूपण प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के अनुसार साधारण होने पर भी अपने अभिव्यक्ति-वैदग्ध्य में असाधारण

है । इसी क्रम में चैतन्य के जगद्रूप में आविर्भाव का निरूपण भी उल्लेखनीय है : "विश्व रूप में आभासमान् चिति-शक्ति या आत्मा स्वयं ही अपने को नाना रूपों में अवच्छिन्न करती है । ये रूप उसके आत्मविमर्श के ही रूप हैं, न कि अनात्मक उपाधियां । **रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव** । उस आत्मा का साध्य-साधक भेद से लीला-रस और भक्ति-रस के रूप में प्रकाश रस को उसका स्वरूप ही सिद्ध करता है । विभाव आदि के अर्पण के द्वारा सभी काव्य नाट्यात्मक होते हैं और नाट्य का सार ही लाला है ।" (106) इस प्रकार ऊपर के उद्धरण में आत्म-प्रतीति की भावोपाधि अनात्मोपाधि नहीं ठहरती बल्कि आत्म-विमर्श का ही एक रूप ठहरती है । इसी प्रकार कला की कल्पनात्मकता, भावात्मकता और विषयि-परकता गहनतर याथार्थ्य की निरूपक हो जाती है ।

अब, "रसो वै सः" इस औपनिषद् वाक्य में प्रयुक्त "रस" पद का काव्य-संदर्भ में प्रयुक्त "रस" पद से भेद देखें: "वास्तविक भाव तो स्वसंलग्न संवेदना या प्रति-क्रिया के रूप में प्रतीत होता है और उसमें साधारणीकरण या निर्वैयक्तिकता संभव नहीं है । आध्यात्मिक स्तर पर रस को संवित् स्वरूप या आनंद-स्वरूप कहा गया है जो न विषयानन्द है, न भावुकता का स्वाद, न ब्रह्मानंद । वह स्वरूप-विश्रांति से अभिन्न है । विशेषालंबन और भावोपाधिक होने के कारण उसे शुद्ध आत्म-संवित् से भिन्न कहा गया है । इस दृष्टि से "रसो वै सः" में रस को काव्य-रस से भिन्न ठहराया गया है । किन्तु यह भेद वैसा ही है जैसे कोई शुभ्रज्योति को रंगीन कांच के माध्यम से देखे । विषय-रस तक में वही रस है किन्तु वृत्तिमालिन्य से वह प्रायः आच्छन्न रहता है ।" (106) यहां यह स्मरणीय है कि प्रायः सर्वत्र ही स्त्री-पुरुष के बीच उत्कट प्रेम को ईश्वर-प्रेम के तुल्य ही देखा गया है और भक्त कवियों ने स्त्री-पुरुष के प्रेम के रूपक का ही आश्रय लिया है । भागवत् धर्म में तो राधा-कृष्ण के प्रेम-निरूपण में मानवीय और दिव्य प्रेम का भेद लुप्त ही हो गया है । किन्तु आगे पांडेजी रस के इन दो रूपों में एक दूसरा भेद करते हैं : "रसानुभूति का आत्मानुभूति से भेद सविशेष होने के कारण नहीं है बल्कि इस कारण है कि साहित्य में आत्मानुभूति बुद्धि-वृत्ति से अवच्छिन्न चेतना के लिए एक व्यंजना-संप्रेष्य अर्थ है न कि वृत्ति-निरोध के उपरान्त स्वरूप-स्थिति ।" (106–7) रसानुभूति के आत्मानुभूति से भेद का यह निरूपण वेदान्त सांख्य, योग और प्रत्यभिज्ञा संप्रदाय की पदावलियों के सर्वथा अनुरूप है, किन्तु तब एक प्रश्न यहां प्रासंगिक जान पड़ता है कि ऊपर दो उद्धरणों में काव्य के प्रसंग में "आत्म-विश्रांति" पद का क्या अर्थ है ?

दूसरे लेख के इस सारांश से यह सहज में देखा जा सकता है कि इसमें रस-सिद्धान्त का दार्शनिक पक्ष कितनी विदग्धता के साथ प्रस्तुत किया गया है । इस

दार्शनिक सिद्धान्त का एक तत्त्वमीमांसीय पक्ष है और एक काव्यमीमांसीय पक्ष। इसके तत्त्वमीमांसीय पक्ष से साधारणत: हमारा कोई मतभेद नहीं है किन्तु काव्य-मीमांसीय पक्ष हमें तत्त्वमीमांसीय पक्ष के प्रभाव में एक सीमा तक युक्त प्रतीत नहीं होता। ऐसा क्यों, इसकी ओर हमने ऊपर संकेत किया है, यद्यपि केवल संकेत ही किया है। किन्तु इस दूसरे लेख से इस दृष्टि से हमारा मतैक्य प्रथम की तुलना में अधिक है कि इसमें पांडेजी ने कला का अन्वेष्य अधिक स्पष्ट रूप से सत्य को ही देखा है। निश्चय ही काव्य के अन्वेष्य विषयक यह दृष्टि बहुत कुछ अभिनव-गुप्त की भी है, किन्तु वह दृष्टि पांडेजी के लेखों में अधिक स्पष्ट रूप से उभर कर आयी है, यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है।

\+ \+ \+ \+

यह समीक्षा मैंने पांडे जी को अवलोकनार्थ भिजवायी तो उन्होंने इस पर अपनी निम्न प्रतिक्रिया लिखी: "वास्तव में **मूल्यमीमांसा, भारतीय परम्परा के मूलस्वर** एवं **भक्तिदर्शन विमर्श** में सन्दर्भ-भेद और दृष्टि-भेद से एक अवान्तर भेद है। **मूल्यमीमांसा** में सौन्दर्य-बोध और उसकी विशिष्ट प्रक्रिया अथवा व्यंजकता के व्यापार की ओर विशेष ध्यान है। उसमें व्यंग्य विविध मूल्यों के रूप में ही निर्दिष्ट है। **मूल स्वर** में व्यंग्य मूल्य को चेतना के आभ्यन्तर आदर्शों के रूप में देखने का प्रयत्न है। **भक्ति-दर्शन** में प्राय: इन आदर्शों की आत्मिक सत्य के रूप में अवधारणा है जिसमें भाव विषयि-सत्य का प्रमाण बन जाता है और आलंबन उस सत्य का एक प्रतिबिंब। सौन्दर्य और सत्य को मैं परमार्थत: भिन्न नहीं मानता, ट्रुथ इज़ ब्यूटी, ब्यूटी ट्रुथ। किन्तु काव्य-संप्रेषित सत्य परमार्थत: रसिकों के सौन्दर्यवाद का उतना ही अतिक्रमण करता है जितना वह तार्किकों के तत्त्ववाद का। आर्ष वाक् के स्वायत्त अर्थ में मूल चैतन्य अपने को प्रतिबिम्बित करता है, इस धारणा के अनुसार ही काव्य में सत्य अन्वेष्य प्रतीत होता है। मानवीय कल्पना और ईश्वरीय कल्पना का सारूप्य-समानच्छन्दता-ही सत्य का लक्षण हो सकता है और यह सारूप्य संवित्-लग्नता के द्वारा ही संभव है।"

पांडे जी यहां जो कह रहे हैं उससे मैं शब्दश: सहमत हूं, किन्तु यह कला से अतिस्तर का विषय है जिसमें सभी अन्वेषण समान रूप से भाग लेते कहे जा सकते हैं, केवल काव्य-संप्रेषित सत्य ही नहीं। मेरा विवेच्य यहां कला का संप्रेष्य है जिसे मैं सामन्य धारणा से भिन्न सत्य कह रहा हूं और उस सत्य के वैशिष्ट्य को प्रदर्शित करने का प्रयत्न कर रहा हूं। यह बात पिछले अंक में प्रकाशित लेख के पहले पृष्ठ पर ही स्पष्ट हो जाती है, आगे "उन्मीलन-गोष्ठी" में दिये

गए स्पष्टीकरण में इसे मैंने पुनः स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। पांडे जी के उपर्युद्धृत स्पष्टीकरण में मुझे एक और छिद्र दिखायी दिया, वह है सत्य और सौन्दर्य की अभिन्नता का। मैंने उन्हें लिखा कि दोनों में अभेद-प्रतिपादन दोनों को अतिव्यापक बना देता है। इसके उत्तर में उन्होंने लिखा "23.3.92 के अपने पत्र में आपने सत्य और सौन्दर्य की अभिन्नता पर आपत्ति की है। मुझे यह बात जँचती है कि सभी आदर्श मूल्य एक ही पारमार्थिक मूल्य के आभास हैं जैसे पहाड़ के पहलू एक शिखर पर जा कर मिलते हैं। इससे उनका आपात: भेद निरस्त नहीं होता। दर्शन, विज्ञान और कला का भेद तो मुख्यतः विधागत है। दर्शन अन्वीक्षात्मक, विज्ञान निरूपणात्मक, कला व्यंजनात्मक विधा है। फिर, सत्य और सौन्दर्य की अवधारणाओं के मूल्यात्मना पारमार्थिक अभेद का अर्थ यह नहीं है कि इन शब्दों के सब प्रयोग परिवर्तनीय होने चाहिएं।"

पांडे जी के इस स्पष्टीकरण में 'पारमार्थिक' शब्द का प्रयोग कठिनाई पैदा करता है। यहां पांडे जी का अन्तिम कथन लें। हम कहना चाहेंगे कि पद-प्रयोग के जिस स्तर पर "सत्य" और "सौन्दर्य" पदों के कुछ प्रयोगों में अभेद स्वीकार किया गया है उस स्तर पर इनके सभी प्रयोग परस्पर परिवर्तनीय होते हैं, ऐसा भी कहा जा सकता है, क्योंकि परमार्थ में अद्वय भाव है। किन्तु यदि भाव और लोक में यह भी सही हो कि "जो जो सुन्दर है वही वही सत्य भी है" तो भी इनमें अभेद स्थापित नहीं होता, जिस प्रकार "जो जो विस्तारवान् है वही वही वर्णवान् भी है" इन में "वर्णवान्" और "विस्तारवान्" में अभेद स्थापित नहीं होता। उदाहरणतः "सत्य का सौन्दर्य और सौन्दर्य का सत्य" ये पद-प्रयोग अप-प्रयोग नहीं कहे जा सकते। पांडे जी के प्रतिपादन की विषमता विधागत भेद को वस्तुगत भेदमूलक नहीं देखने से और स्पष्ट हो जाती है। विधागत भेद के कारण सत् के अनेक आयाम हैं जो विज्ञान के लिए अगम्य हैं, और विज्ञान के लिए केन्द्रीय दर्शन के लिए केवल गौण और आंगिक हैं। जहां तक दर्शन और कला का सम्बन्ध है, इनमें यदि विस्तारात्मक समानता स्वीकार कर भी ली जाय तो भी गुणात्मक समानता कहीं स्वीकार नहीं की जा सकती, जैसे यदि दृश्य और आस्वाद्य सर्वत्र एकस्थ हों तो भी इनसे वस्तु की एकता अनुमेय ही होगी, न कि वस्तु से इनकी एकता प्रमाणित होगी।

किन्तु **भक्तिदर्शन विमर्श:** पुस्तक में पांडे जी के रस-विषयक प्रतिपादन से ऐसा लगता है कि पांडे जी का और मेरा मतभेद वास्तव नहीं होकर केवल शाब्दिक है और पांडे जी की प्रथम पत्र में लिखी यह बात सही है कि उनके

उपर्युक्त दो पुस्तकों में प्रतिपादित मत का तीसरी में प्रतिपादित मत से भेद केवल सन्दर्भगत है और अवान्तर है । **भक्तिदर्शन विमर्श**: में वे कहते हैं : "रस केवल मनोरंजन मात्र या काल्पनिक सुखास्वाद मात्र नहीं है, न लौकिक भाव के अनुसारी मन द्वारा विषयास्वाद अथवा स्वाभाविक या चिदानंदात्मक आस्वाद ही है। वह भाव द्वारा व्यंग्य सत्य का साक्षात्कार अथवा आत्मा का अवभास है ।........ जिस प्रकार दार्शनिक सत्य मूल प्रतिपत्ति के अधीन और तर्कान्वित होता है उसी प्रकार रसानुभूतिगत सत्य भाव-समाश्रित तथा व्यंजना-व्यापार से अन्वित होता है । प्रतिभा द्वारा साक्षात्कृत भाव-सत्य की अनुभूति ही रस है और यह वाद तत्त्व-दर्शन के विवादों से निरपेक्ष है ।" (पृ. 112–13) किन्तु पांडे जी के इस प्रतिपादन से मेरी पूर्ण सहमति होने पर भी एक अन्तर कहा जा सकता है: इसका केन्द्रीय बिन्दु भक्ति-रस है जबकि मैं "रस" मात्र ही को कला के लिए केन्द्रीय नहीं मानता हूं । किन्तु पांडे जी का यह प्रतिपादन अन्य रसों के लिए भी कुछ खींच कर ही लागू हो पायेगा । तो भी, इस उद्धरण में "भाव द्वारा व्यंग्य सत्य का साक्षात्कार" इतने मात्र को कला का लक्षण रखने पर हमारा मत पांडे जी से पूर्णतः अभिन्न ठहरेगा ।

पी 51, मधुवन पश्चिम,
किसान मार्ग, टोंक रोड, जयपुर–302015

क्या क्षत्रिय ही राजा हो ?

अनुवादक : विजयपाल शास्त्री
मुकुन्द लाठ

प्रश्न : राजा शब्द का वाच्यार्थ क्या है ? राजा कौन कहला सकता है ? क्या राजा ऐसे क्षत्रिय को ही कहेंगे जो किसी राज्य का अधिपति हो और जिसका विधिवत् अभिषेक किया गया हो या ऐसा कोई भी राजा कहला सकता है जिसने शौर्य जैसे गुणों से राज्य पा लिया हो और प्रजा-पालन करता हो ? "राजा" शब्द का अर्थ क्या केवल क्षत्रिय की ओर ही संकेत करता है या राज्य करने वाला, प्रजा पालने वाला किसी भी वर्ण का पुरुष "राजा" शब्द से जाना जा सकता है ? मनु के एक श्लोक पर, जिससे मनु ने राजा का धर्म क्या हो, इस "राजधर्म" विषय का आरंभ किया है, बाद के टीकाकारों और चिन्तकों ने यह प्रश्न उठाया है। उनमें काफी मतभेद हैं जो देखने योग्य हैं।

यह सारी चर्चा **धर्मकोश** के राजनीतिकाण्ड द्वितीय भाग में, पृष्ठ 781 से 786 तक आई है। यहां हम उसी का अनुवाद दे रहे हैं। **धर्मकोश** संस्कृत के इदानींतन विद्वानों के एक महत् और विलक्षण प्रयास का फल है। पिछले कई दशकों से महाराष्ट्र के वाई क्षेत्र से इसका प्रकाशन हो रहा है। सत्रह विशालकाय खण्ड निकल चुके हैं पर ग्रन्थ अभी अधूरा है। योजना बड़ी व्यापक है क्योंकि धर्म का क्षेत्र ही व्यापक है। मानव-कर्म मात्र के औचित्य, इतिकर्त्तव्यता का क्षेत्र है धर्म। इसलिये यह एक नहीं अनेक है। या यों कहें कि धर्म के कई पहलू या अंग हैं—जैसे संस्कार, व्यवहार (कानून), राजनीति आदि। इन सभी पर श्रुति, स्मृति और बाद में निबंध और टीका के रूप में एक अति विशाल साहित्य उपलब्ध है। धर्मकोश इन्हीं का व्यवस्थित संग्रह है। धर्म के प्रधान अंगों पर अलग काण्ड हैं—जैसे राजनीति काण्ड। हर काण्ड में विषय और प्रकरण के अनुसार सामग्री सजाई गई है। खास बात यह भी है कि सजाव में इतिहास-क्रम का विशेष ध्यान रखा गया है। ग्रन्थ के सम्पादक लब्धप्रतिष्ठ विद्वान पण्डित लक्ष्मण शास्त्री जोशी हैं।

किसी भी चिन्तन-तन्त्र या व्यवस्था में नये प्रश्न उठते हैं, चाहे उस तन्त्र को संशय से अस्पृष्ट, ध्रुव और अटल ही क्यों न मान लिया गया हो। प्रश्नों का समाधान भिन्न दिशायें लिये बिना नहीं रह सकता। भारतीय समाज-चिन्तन में भी ऐसा हुआ है। उसीका यहां एक नमूना है। हमारे समाज-चिन्तन को अकसर स्थाणु, पुराने की अनुवृत्ति-मात्र मान लिया जाता है। यहां चिन्तन में विवाद और दिशा-भेद उभर कर आता है जो उसके चरिष्णु, प्राणवान् होने का लक्षण है।

यहां जो प्रश्न उठे हैं हमें सहज ही अन्य प्रश्नों की ओर ले जाते हैं। जैसे : किसी के भी राजा हो सकने की बात अगर परम्परा में विधिवत् उठाई जा सकती है तो किसी के भी ब्राह्मण या किसी भी वर्ण के होने की बात भी उठाई ही जा सकती है। उठी थी क्या? और अगर हम आज उठाते हैं तो क्या परम्परा का तिरस्कार कर रहे हैं?

मनु कहते हैं : राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः। सम्भवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा ॥—अब मैं राज-धर्मों का वर्णन करूंगा। नृप का आचरण कैसा हो, उसकी उत्पत्ति कैसे हुई और वह परम सिद्धि कैसे पा सकता है, यह सब बतलाऊंगा। (**मनुस्मृति** 7, 1)

इस पर **विश्वरूप**, लेखक विश्वरूप, ईस्वी आठवीं सदी :

यह नृप होता कौन है, जिसका कि उत्थान और पतन ग्रहों के अधीन (कहा गया) है? "नृप" शब्द तो राजा के लिये प्रसिद्ध है। क्या यह क्षत्रिय के लिये है? कहा भी गया है : "क्षत्रिय का प्रधान कर्म प्रजापालन है" (**याज्ञवल्क्य स्मृति**, 1, 119)। स्वयम्भु (मनु) भी कहते हैं : "ब्राह्म प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि। सर्वस्यास्य यथान्याय कर्त्तव्यं परिरक्षणम् ॥—'जिसे ब्राह्म संस्कार मिला हो ऐसे क्षत्रिय द्वारा इस सब कुछ का यथान्याय रक्षण किया जाना चाहिये। यहां ध्यान देने की बात यह है कि ऐसा पुरुष जिसका अभिषेक आदि हुआ हो वही राज्य का अधिकारी कहा गया है, सामान्य क्षत्रिय नहीं। (तभी कहा है) : "स मूर्ध्ना राजानमसृजत, स मूर्धन्यभिषिक्तो राजा भवेत्—उसने मूर्धा से राजा को बनाया, इसलिये मूर्धा पर अभिषिक्त हुआ ही राजा होता है। यह श्रुति का वचन है।

मेघातिथिभाष्य, लेखक मेघातिथि, नौवीं सदी :

हम कह चुके हैं कि "धर्म" शब्द कर्त्तव्य का वाचक है। अब राजा के कर्त्तव्य का वर्णन किया जायेगा, यह प्रतिज्ञा-वाक्य है। राजा के दो प्रकार के कर्त्तव्य हैं, जिनके दो भिन्न प्रयोजन हैं: दृष्ट और अदृष्ट। षाड्गुण्य का साधन (संधि विग्रह, यान, आसन, संशय, द्वैधीभाव—इनमें यथाकाल प्रवृत्त होना) ऐसे कर्त्तव्यों का उद्देश्य इहलौकिक होता है। ये दृष्ट कर्त्तव्य हैं। अग्निहोत्र जैसे यज्ञ रूप अनुष्ठानों का करना राजा का अदृष्ट कर्त्तव्य है। यहां, इस राजधर्म के प्रकरण में, मुख्यरूप से दृष्ट-प्रयोजन की ही बात की जा रही है। राजधर्म को इसी अर्थ में समझा भी जाता है—यह माना जाता है कि दृष्ट प्रयोजन की सिद्धि ही राजधर्म की सिद्धि है। इसलिये "राजा" शब्द यहां क्षत्रिय-जाति का वाचक नहीं है।

फिर किसका वाचक है? अभिषेक, आधिपत्य जैसे गुणों से युक्त किसी भी

पुरुष का वाचक है । इसीलिये (मनु कहते हैं) : "नृप का आचरण कैसा हो...." । उन्होंने यहां (जानबूझ कर, अलग से, "राजधर्म" में "राजा" के आ जाने के बाद भी) "नृप" शब्द का प्रयोग किया है और इससे सूचित किया है कि (राजधर्म का) अधिकारी जनपद पर प्रभुत्व रखनेवाला कोई भी हो सकता है । क्योंकि अब (इस प्रकरण में) ऐसे धर्मों का वर्णन है जिनका प्रमाण वेद नहीं है और न ही इनमें सब का मूल ही वेद है । जो धर्म इतर-प्रमाणमूलक हैं पर धर्मशास्त्र के विरुद्ध नहीं हैं, उन धर्मों का यहां वर्णन है । कात्यायन ने कहा भी है : "अर्थशास्त्र के वचन का त्याग करे और धर्मशास्त्र के वचन का ग्रहण ।" मनु ने नृप का आचरण कैसा हो इसका वर्णन करने की बात कही है । मूल में इसके लिये "यथावृत्त"—जिस प्रकार का वृत्त (बर्ताव) है जिसका—यह शब्द आया है । यह बहुव्रीहि समास है और बहुव्रीहि अपने शब्दों के अर्थ को गौण बना कर किसी अन्य पदार्थ की ओर संकेत करता है । यहां बात राजा की हो रही है—"यथा" या "वृत्त" की नहीं । जो भी राजा हो वह आचरण कैसा करे, "यथावृत्तः" का यही अभिप्राय है । "यथावृत्त" में अगर "यथा" शब्द प्रधान होता तो अव्ययीभाव समास होता—जो कि है नहीं—और अर्थ होता आचरण की मर्यादा को न लांघना । "वृत्त" शब्द परिपालन के लिये किये जाने वाले कर्म—दृष्ट-प्रयोजन और अदृष्ट-प्रयोजन—दोनों की ओर इंगित करता है । "संभवः" का अर्थ है उत्पत्ति, जिसका वर्णन मनु ने अन्यत्र "राजानमसृजत् प्रभुः"—ईश्वर ने राजा की सृष्टि की–इत्यादि श्लोकों में किया है । ऊपर के श्लोक में आये "सिद्धिश्च परमा यथा" का अभिप्राय है परम या उत्कृष्ट सिद्धि, जो कि राजा जैसे विजय-काम पुरुष के लिये एकाधिपति होने में होती है । यह राजधर्म का फल है ।

मिताक्षर, याज्ञवल्क्य स्मृति पर भाष्य, लेखक विज्ञानेश्वर, ग्यारहवीं सदी :

यद्यपि राजा को लक्ष्य बना कर यह राजधर्म कहा गया है फिर भी यह धर्म किसी भी वर्ण का का हो सकता है : ऐसे किसी भी पुरुष का जिसके हाथ में विषय (देश) और मण्डल (देश का अंश-विशेष) के परिपालन का अधिकार हो । यह बात "राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः" श्लोक के इस पूर्वार्ध में "नृप" शब्द के पृथक् ग्रहण से निकलती है) भावार्थ यह है कि "राजधर्म" शब्द में "राजा" शब्द तो आ ही गया था फिर भी आगे अलग से "नृप" का प्रयोग किया गया है । इससे ध्वनित होता है कि जो भी नृ-प हो, मनुष्यों का रक्षण करे, वह राजधर्म का अधिकारी है) ।

मन्वर्थविवृतिः, लेखक सर्वज्ञनारायण, बारहवीं सदी :

पांच अध्यायों में मनु ने ब्राह्मण के विशेष धर्म बताये । अब द्वितीय वर्ण, क्षत्रिय

के विशेष धर्म बता रहे है : "राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि —"। "धर्म" का अर्थ यहां "धर्म जिससे सिद्ध हो वह कर्त्तव्य" है। "यथावृत्तः" का अर्थ है, "अमुक प्रकार से आचरण करनेवाला"। "सम्भवः" का अर्थ है सृष्टिक्रम में उत्पत्ति। सिद्धि का अर्थ है इष्ट-प्रयोजन की सफलता।

मन्वर्थमुक्तावलि, कुल्लुक भट्ट, बारहवीं सदी :

"धर्म" शब्द यहां अदृष्ट ही नहीं दृष्ट प्रयोजन से किये जाने वाले कर्म का भी वाचक है। क्योंकि यहां षाड्गुण्य आदि लौकिक नीतियों का भी वर्णन किया जायेगा। "राजा" शब्द यहां क्षत्रियजाति का वाचक नहीं है किन्तु जनपद और पुर के पालन करनेवाले किसी भी ऐसे पुरुष के लिये आया है जिसका सिंहासन पर अभिषेक हुआ हो। इसीलिये कहा है, "यथावृत्तो भवेन्नृपः" —जिस तरह का आचरण करनेवाला व्यक्ति नृ-प होता है उस आचरण का वर्णन करूंगा। नृप की उत्पत्ति क्यों और कैसे हुई और वह दृष्ट और अदृष्ट उद्देश्यों की सिद्धि कैसे करे यह भी बताऊंगा।

राजनीतिरत्नाकर, लेखक चण्डेश्वर, बारहवीं सदी :

मनु ने कहा है : "जब लोक में अराजकता फैल गई और लोग डर कर चारों ओर भागने लगे तब इस सब कुछ की रक्षा के लिये भगवान् ने राजा की सृष्टि की।" "राजा" से इस श्लोक में अर्थ राजामात्र है। जिन शब्दों में बात कही गई है किसी विशेष राजा को ध्यान में रख कर नहीं कही गई हो सकती। सृष्टि भी यहां उत्पत्ति मात्र की ओर संकेत करती है। 'सृष्टि की"—ऐसा कहने में काल उपलक्षण मात्र है ("की" भूतकाल को, और सामान्य रूप से इंगित करता है, किसी वर्ण विशेष के राजा विशेष की उत्पत्ति के इतिहास या कथानक की ओर कोई इशारा नहीं है। बस इतना ही कहा जा रहा है कि राजा नाम के सत्ताधारी की उत्पत्ति हुई। यही सामान्य निर्देश है।) ऐसा ही सामान्य-गर्भी अभिप्राय ऊपर के श्लोक—"राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि —" में भी है —राजधर्म को यहां विशेषित नहीं किया गया है (कि यह अमुक का धर्म है)। तात्पर्य यह है कि जो प्रजा-रक्षण करनेवाला है वह राजा है। प्रश्न उठ सकता है कि फिर वेन जैसे को राजा कैसे कहा गया है (जिसने राजा होते हुए भी प्रजा-रक्षण नहीं किया था) ? (इसी बात को ध्यान में रख कर यहां कहा जा रहा है कि जिसमें प्रजा-रक्षण की साक्षात् योग्यता हो वह राजा है। इसीलिये कुल्लुक भट्ट भी कहते हैं : "राजा शब्द यहां क्षत्रिय-परक नहीं है। इसका अर्थ है जनपद और पुर का पालन करनेवाला"। **राजनीतिकामधेनु** में भी ऐसी ही बात कही गई है : जिसका राज्य में अभिषेक हो वह राजा होता है, प्रजापालन आदि कर्म से वह (राजा के रूप में) जाना जाता है। इसके पहले वह राजा है या नहीं यह ज्ञात संभव नहीं।

इसीलिये कई लोग कहते हैं कि जो प्रजापालन में सचमुच प्रवृत्त हो वही राजा है। वस्तुतः अभिषेक आदि और प्रजापालन में प्रवृत्त होना, ये दोनों ही प्रजा पर पा लिये गये प्रभुत्व की सूचना देने वाले चिह्न मात्र हैं। हमारे गुरु ने तो यहां तक कह दिया है कि, जो राजा के रूप में प्रसिद्ध हो वही राजा है। क्योंकि केवल शौर्य से ही जिसने राज्य पा लिया हो उसे राजा नहीं ही कहते हैं।

पराशरमाधवः, पराशर स्मृति पर टीका, लेखक माधवाचार्य, बारहवीं से तेरहवीं सदी--यह ग्रन्थ मनु पर टीका नहीं है। पर विषय-साम्य के कारण इसे भी यहां लेना उचित है :

प्रश्न हो सकता है: "दण्डयेत राजा"--राजा दण्ड दे— (**पराशर स्मृति** 1,68) इस आप्तवाक्य से यही निष्कर्ष निकलता है कि राजा का काम दण्ड देना है। तो फिर राजा होना क्षत्रिय का विशेष धर्म कैसे माना जाये ? पर यह संशय ठीक नहीं। राजा शब्द क्षत्रिय-परक ही है। यह बात जैमिनी सूत्र के अवेष्टि-अधिकरण (जैमिनि सूत्र 2, 3, 2) में सिद्ध कर दी गई है। अवेष्टि-अधिकरण में राजा द्वारा राजसूय यज्ञ में किये जाने वाली अवेष्टि नामक इष्टि का वर्णन है। इस इष्टि का वर्णन करती हुई श्रुति है : आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपति हिरण्यं दक्षिणा (**तैत्तिरीय संहिता** 1,8,19, 1) —अग्नि देवता संबंधी अष्टा-कपाल (आठ ठीकरों में पकाया हुआ होमान्न) और स्वर्ण दक्षिणा देता है। इस इष्टि में विधान है : "यदि ब्राह्मण यज्ञ करे तो बृहस्पति देवता संबंधी हविष्यान्न को बीच में रख, आहुति दे कर उसे सिक्त करे। यदि राजन्य (क्षत्रिय) करे तो हविष्यान्न इन्द्र देवता संबंधी हो और अगर वैश्य करे तो विश्वदेव संबंधी हविष्यान्न बीच में रख, आहुति से उसे सिक्त करे। "इस विधान को देख कर संशय हो सकता है कि क्या इस इष्टि में क्षत्रिय का ही अधिकार है या ब्राह्मण और वैश्य का भी ? अगर सब का अधिकार है तो एक और बड़ा प्रश्न उठेगा : चूंकि राजा के लिये राजसूय का विधान है तो उलझन यह होगी कि क्या यह "राजा" शब्द क्षत्रिय के लिये ही आया है या ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों वर्णों का वाचक है ? क्या "राजा" शब्द के अर्थ का आधार राज्य का होना है अथवा क्षत्रियत्व का होना ?

वस्तुतः "राजा" शब्द के अर्थ का आधार राज्य का होना ही है। आर्यों में और अन्य सभी लोगों में इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग होता है। द्रविडों में यह शब्द गरिमा से गिरा हुआ है, क्षत्रिय मात्र के लिये प्रयुक्त हो जाता है, हालांकि औरों के लिये नहीं। पर इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि "राजा" शब्द के अर्थ का आधार क्षत्रियत्व का होना है। अर्थ-विचार में द्रविड-प्रयोग का वह महत्त्व नहीं हो सकता जो आर्य-प्रयोग का है। आर्यों में शब्द की गरिमा बनी हुई है। और

आर्य-प्रसिद्धि ही सर्व-लोक-प्रसिद्धि मानी जाती है । इसलिये जिसके पास राज्य हो ऐसा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों में कोई भी राजा हो सकता है ।

रूढ़ि से "राज्य" शब्द "जनपद की रक्षा" इस अर्थ की ओर संकेत करता है । जहां जनपद की रक्षा हो वह राज्य है । यह नहीं कि जहां "राजा" हो वह राज्य है ।

इस पर आपत्ति हो सकती है । "कर्मणि" (कर्म के अर्थ में) "पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्" (अष्टाध्यायी 5,1,128) इस निर्देश से "राज्यम्" का अर्थ बनता है : "राजा का कर्म"—क्योंकि "राजन्" शब्द पुरोहितादि गण में आता है । एक बात और भी है । स्मृति आचार या प्रयोग से बलवती होती है और स्मृति में "राज्य" शब्द का अर्थ "राजा" से जोड़ा गया है—राजा जो कर्म करे वह राज्य कहा गया है । इसलिये अर्थ यही माना जाना चाहिये चाहे आचार या प्रयोग में ऐसा न भी होता हो ।

यह आपत्ति ठीक नहीं, क्योंकि शब्द के अर्थ-विचार में लोक ही प्रमाण होता है । स्मृति में भी शब्दों के अर्थ का मूल लोक-प्रयोग ही है दूसरा कुछ नहीं । प्रयोग से यही सिद्ध होता है कि "राज्य" शब्द एक स्वतन्त्र शब्द है और इसी शब्द के आधार पर "राजन्"—"राजान"—शब्द का अर्थ बनता है — अर्थात् जो राज्य करता हो वह राजा है । स्मरण—स्मृतिशास्त्र या व्याकरण-शास्त्र—का काम अर्थ-निर्धारण नहीं है । उनका काम शब्द और अपशब्द में विवेक करना ही है—सही स्थान पर सही शब्द का प्रयोग करना ही है । इसी युक्ति से राजसूय यज्ञ में "राजा" शब्द से तीनों वर्णों का अधिकार बनता है । अलग-अलग वर्णों के लिये जो विधान में थोड़ा भेद है वह वर्ण-भेद से अनुष्ठान-भेद है । विधान में "यदि" शब्द का भी प्रयोग हुआ है—"यदि ब्राह्मणो यजेत...... यदि राजन्यः........यदि वैश्यः" । इस "यदि" के प्रयोग से यही सिद्ध होता है कि इस संदर्भ में "राजा" का अर्थ है "राज्य करनेवाला" । नहीं तो ब्राह्मण आदि के लिये विधान वृथा होगा और "यदि" का प्रयोग भी निरर्थक होगा । यहां यह भी ध्यान रखना चाहिये कि वैदिक निर्देश स्मृति से भी बलवान् होता है । वहां स्पष्ट ही राजा के रूप में तीनों वर्णों के लिये अलग विधान हैं ।

इस पर भी कुछ कहा जा सकता है । बात यह है कि वैदिक निर्देश के आधार पर यहां निर्णय नहीं किया जा सकता क्योंकि वैदिक निर्देश अन्यथा भी मिलता है । विधान है : "राजानमभिषेचयेत"—राजा का अभिषेक करे । इस अभिषेक-विधि में "राजा" शब्द का प्रयोग ऐसे पुरुष के लिये किया गया है जो अभी

राज्य-पद पर आसीन नहीं हुआ है—"राज्य का होना" यह यहां 'राजा के अर्थ का आधार नहीं हो सकता। शब्द का प्रयोग केवल क्षत्रियजाति की ओर ही संकेत कर सकता है। इसलिये "राजा" शब्द केवल क्षत्रिय के लिये ही रूढ़ है। ऊपर के उद्धरण में जो "यदि" आया है वह निपात है। इससे विधान में कोई दोष नहीं आता। और "राजा" शब्द स्मरण (व्याकरण या स्मृति) से स्वतन्त्र है—इनके आधार पर इस शब्द का अर्थ-विचार नहीं हो सकता, इसका अर्थ "राज्य" शब्द पर निर्भर नहीं करता। अर्थात् "जो भी राज्य करे वह राजा", ऐसा मानना ठीक नहीं। "राजा" का अर्थ क्षत्रिय ही है। "क्षत्रिय" अर्थ में इस शब्द के प्रयोग को निर्मूल भी नहीं कहा जा सकता। द्रविडों में इसके प्रयोग का आधार मिलता ही है।

यथार्थ में बात यह है कि स्मरण (व्याकरण या स्मृति) अपने-आप में प्रमाण नहीं है। जिसके मूल में शिष्टों का आचरण और प्रयोग हो वही स्मरण है। ऐसे विशुद्ध स्मरण को आधार बना कर देखें तो यही पायेंगे कि "राजा" शब्द का अर्थ "राज्य" शब्द पर निर्भर नहीं करता—"जो भी राज्य करे वह राजा", । शब्द का यह अर्थ नहीं है। यह सही है कि "राज्य" शब्द के प्रयोग के मूल में कुछ दोष आ गये हैं। प्रयोग कहीं भ्रान्त हो गया है कहीं शब्द का गौण अर्थ मुख्य हो गया है। पर सच तो फिर भी यही है कि "राज्य" शब्द के अर्थ का आधार "राजा" है—"राजा" शब्द के अर्थ का आधार "राज्य" नहीं, अर्थात् जिसका राजा होना उचित है वह जो करे सो "राज्य" है। "राजा" शब्द स्वतन्त्र है और इसका अर्थ है "क्षत्रिय"। जहां तक अवेष्टि नामक इष्टि का संबंध है, वहां ब्राह्मण आदि का उल्लेख इसलिये है कि इस यज्ञ-विशेष में ब्राह्मण आदि का भी अधिकार बन जाये जो कि अलग उल्लेख के बिना सम्भव नहीं हो सकता। इस प्रकार "राजा" शब्द यहां क्षत्रिय-वाचक ही है।

(यहां माधवाचार्य यह कह रहे हैं कि अवेष्टि नाम का यज्ञ एक अलग यज्ञ है जो राजसूय से स्वतन्त्र है। इस यज्ञ को राजसूय की तरह राजा ही करे ऐसी कोई बात नहीं। इसीलिये इस यज्ञ के विधान में कहा गया है कि ब्राह्मण इसे अमुक तरह से करे, क्षत्रिय और वैश्य कुछ अलग तरह से करें।)

कोई कह सकता है कि राजा वही होता है जो प्रजा का रंजन करे। इसीलिये महाभारत में कहा गया है : रंजन और प्रजा के पालन से राजत्व होता है। इसमें इमें कोई आपत्ति नहीं। क्षत्रिय भी तो ऐसा रंजन कर ही सकता है।

मन्वर्थचन्द्रिका, लेखक राघवानन्द, पन्द्रहवीं सदी के बाद की रचना :

विधान है कि राजा धर्मस्य कारणम्––राजा धर्म का कारण होता है। इसीलिये मनु ने दो अध्यायों में राजा और धर्म का कार्य-कारण सम्बंध बताया है। "राजधर्म" शब्द में आया "राजा" यहां "क्षत्रिय" का वाचक है। प्रमाण हैं : द्रविड में इसी अर्थ में शब्द का प्रयोग एवं जैमिनि के अवेष्टि-अधिकरण में आया निर्णय। "राजा" शब्द का अर्थ अन्य वर्ण का पुरुष भी हो सकता है जो प्रजा का पालन और कण्टकोद्धरण करता हुआ राज्य करे। पर यह अर्थ लाक्षणिक है, शब्द का सीधा अर्थ नहीं। इसीलिये मनु आगे कहते हैं: "ब्राह्मं प्राप्तने संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि। सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्त्तव्यं परिरक्षणम् ।। –– जिसे विधिवत् ब्राह्म संस्कार मिला हो ऐसे क्षत्रिय को चाहिये कि इस सब कुछ का यथान्याय रक्षण करे"। फिर और आगे कहते हैं : "क्षत्रियस्यापराधेन ब्राह्मणः सीदति क्षुधा –– क्षत्रिय के अपराध से ब्राह्मण को भूख से छीजना पड़ता है" (मनुस्मृति 11, 21) । और "वेदाभ्यासो विप्रस्य क्षत्रियस्याभिरक्षणम्—वेदाभ्यास ब्राह्मण का और प्रजा-रक्षण क्षत्रिय का काम है" **मनुस्मृति** 10,80)। यह भी कहते हैं : "नाक्षत्रं ब्रह्म वर्धते—बिना क्षात्रधर्म के ब्राह्मणधर्म नहीं बढ़ सकता" (मनुस्मृति 9,322) । कहते हैं : "क्षत्रियाय ददौ राज्यम्—क्षत्रिय को राज्य दिया"। "संध्यां चोपास्य श्रृणुयात्—राजा को चाहिये कि संध्या उपासना करके ही गुप्तचरों की बात सुने" (**मनुस्मृति** 7,222)। इन प्रसंगों से स्पष्ट है कि "राजा" शब्द का प्रयोग क्षत्रिय के लिये ही हुआ है।

पर ऐसी बात भी नहीं है कि ब्राह्मण आदि राजधर्म के अधिकारी नहीं हैं। मनु ने कहा है : अजीवस्तु यथोक्तेने ब्रह्मणः स्वेन तेजसा। जीवेत् क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तर :।। —कोई ब्राह्मण अगर यथा-विहित ब्राह्मण-धर्म से जीविका न चला सके तो अपने तेज से क्षत्रिय-धर्म अपना सकता है, वर्णों में क्षत्रिय ब्राह्मण के सबसे निकट है (**मनुस्मृति** 10,81)। यों आपत्-काल में मनु ने ही ब्राह्मण को क्षत्रियधर्म-पालन का निर्देश दिया है। राजधर्म में दो प्रकार के कर्त्तव्य हैं : अदृष्ट—अग्निहोत्र-आदि, जिसके लिये ऋत्विक् आदि का वरण करना होता है और दृष्ट––प्रजापालन। इसके लिये षाड्गुण्य आदि काम में लेनें होते हैं। "यथावृत्तः" का तात्पर्य है: राजा का आचरण कैसा हो। "सम्भवः" से इंगित इन्द्र से राजा की उत्पत्ति क्यों और कैसे हुई इस कथा की ओर है। "सिद्धि" युद्ध से ही होती है।

राजनीतिप्रकाश, लेखक मित्रामिश्र, सत्रहवीं सदी:

महाभारत में युधिष्ठिर पूछते हैं: "हे भगवन्, महामुने, द्विजश्रेष्ठ, मुझे विस्तार

से बताइये कि राजधर्म क्या हैं ? मैं चारों वर्णों के सभी धर्मों को जानना चाहता हूं"। इसके बाद इन धर्मों का वर्णन है।

अग्निपुराण में अग्नि कहते हैं : "आदिकाल में जैसे पुष्कर ने राम के पूछने पर राजधर्म बताये थे वैसे ही तुम्हें राजधर्म का विशिष्ट रूप बताता हूं। पुष्कर ने कहा था : अब राजधर्म का स्वरूप बताता हूं। राजधर्म से ही राजा बनता है"।

यों ही मनु भी कहते हैं: "राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः। सम्भवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा ॥" (श्लोक एवं अनुबाद ऊपर आ चुका है)। यों बात उठाते हुए मनु ने राजधर्मों का वर्णन किया है।

पहले हम "राजा" शब्द का अर्थ-विचार करें। क्या प्रजा का पालन करनेवाला कोई भी "राजा" कहला सकता है या "राजा" क्षत्रिय-जाति के पुरुष का ह वाचक है ? या क्षत्रिय-जाति के ऐसे पुरुष का वाचक है जिसका राज्य-पद पर अभिषेक हुआ हो ? इस विषय में जैमिनि के अवेष्टि-अधिकरण में आया है. "राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत—स्वराज की कामना करनेवाला राजा राजसूय यज्ञ करे"। इस विषय में पूर्वपक्ष है : "राज्यस्य कर्त्ता राजेति सर्वलोकेषु गीयते। महाविषयता चैवं शास्त्रस्यापि भविष्यति ॥ राज्य करनेवाला राजा होता है, यह लोक में सब कहीं प्रसिद्ध है। और राजा का यह अर्थ लेने पर इस शास्त्र की बात भी अधिक व्यापक हो जाती है— मनुष्यों के अधिक बड़े समूह पर पूरी उतरती है।" (**जैमिनि सूत्र** 2, 3, 2 पर वार्तिक)। तो तात्पर्य यह हुआ कि ब्राह्मण आदि किसी वर्ण का पुरुष, जो भी राज्य करता हो, वह राजा है। राज्य करने का अर्थ है जनपद का परिपालन।

शब्द के अर्थ-निर्धारण में लोक-प्रयोग को प्रमाण माना जाता है और लोक में राज्य करनेवाले ब्राह्मण-आदि सबके लिये "राजा" शब्द का प्रयोग होता है। यास्क भी जब कहते हैं कि, "राजा राजतेः"—राजित होने से राजा होता है—तो यों "राज" धातु के अर्थ से "राजा" का अर्थ जोड़ते हुए इस शब्द को "प्रजा के रक्षक प्रभु" का ही वाचक मानते हैं। यह ठीक भी है। प्रजा का पालन ही राजा के राजित होने का उत्कर्ष है। वेद में भी ऐसे ही उत्कर्ष के आशय से कहा है : "सोमोऽस्माकं ब्रह्मणानां राजा—हम ब्राह्मणों का राजा सोम है" (**तैत्तिरीय संहिता** 1, 8, 10, 2)। "यो राजा चर्षणीनाम् —जो मनुष्यों का राजा है" (**ऋग्वेदसंहिता** 8, 70, 1)। "सोमो वै राजा गन्धर्वेषु—गन्धर्वों का राजा सोम है" (ऐतरेय ब्राह्मण 5, 1)। इन प्रयोगों में "राजा" का अर्थ "प्रजापालक प्रभु" ही है। कोष में भी यही कहा है : "राजा तु प्रणता-

शेषसामन्तः स्यात्—राजा वह है जिसके आगे सारे सामन्त झुकते हों" (अमरकोष 2, 8, 2)। इसके ठीक आगे अमरकोष कहता है : "अथ राजकम् राजन्यकं च नृपतिक्षत्रियाणां गणे क्रमात्—राजाओं के समूह को "राजक" कहते हैं और क्षत्रियों के समूह को "राजन्यक" (अमरकोष 2, 8, 3–4)। यदि "राजन्य की तरह 'राजन्'—"राजा"—भी क्षत्रिय-वाचक होता तो कोषकार "राजक" और "राजन्य" दोनों को ही क्षत्रियों के समूह का वाचक बताता "राजक" को अलग से नृपतियों के समूह का वाचक क्यों बताता ? इन युक्तियों के आधार पर कुछ विद्वानों का मत है कि "राजन्"—"राजा"—नृ-प (नरेश्वर) का वाचक है।

दूसरे कहते हैं कि "राजा" का संकेत केवल क्षत्रिय-जाति की ओर है। ऊपर के श्लोक "राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि" से बात का आरंभ करके मनु ने जनपद-परिपालन रूपी राज्य का विधान क्षत्रिय के लिये ही किया है। उनका अगला ही श्लोक है : "ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि। सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्त्तव्यं परिपालनम् ॥" इसका अर्थ यों समझना चाहिये : ब्राह्म संस्कार वह संस्कार है जो ब्रह्म—वेद—द्वारा किया गया हो। यह संस्कार वेद के अध्ययन और अवबोध से उत्पन्न होता है। अथवा ब्रह्म अर्थात् वेद और वेद की प्राप्ति के लिये किये जानेवाले उपनयन आदि संस्कार ये ब्राह्म संस्कार हैं। "यथाविधि"का अर्थ है, "शास्त्र के अनुसार"—आशय यह कि ये संस्कार शास्त्र के अनुसार होने चाहियें। मनु कहते हैं कि जिस क्षत्रिय ने यह संस्कार पा लिया हो उसे चाहिये कि "यथान्यायम्", दण्ड-प्रयोग के शास्त्र-निर्देश की मर्यादा को रखते हुए "परिरक्षणम्" करे—दुर्बलों की प्रबलों से रक्षा करे। यों इस श्लोक में यही कहा गया है कि राजा होने का प्रधान अधिकारी क्षत्रिय ही है। और इसीलिये मार्कण्डेय पुराण में भी लिखा है कि क्षात्रय को चाहिये की पृथ्वी की रक्षा करे और जीविका के लिये शस्त्र-धारण करे : "दानमध्ययनं यज्ञः क्षत्रियस्याप्ययं त्रिधा। धर्मःप्रोक्तः क्षितेः रक्षा शस्त्राजीवोऽस्य जीविका ॥ —दान, वेदाध्ययन और यज्ञ ये क्षत्रिय के लिये भी विहित हैं, पर उसका विशेष धर्म है पृथ्वी का पालन और शस्त्र-धारण से जीविका चलाना। "राजा की जीविका का साधन भी प्रजा ही है, जिनके पालन के लिये वह कर लेता है। याज्ञवल्क्य भी कहते हैं : "प्रधानं क्षत्रिये कर्म प्रजानां परिपालनम्—क्षत्रिय का प्रधान कर्म प्रजा का पालन है।" यों धर्म (इतिकर्त्तव्यता) और जीविका, दोनों ही दृष्टि से प्रजापालन क्षत्रिय का प्रधान कर्म है। पाणिनि से भी यही अर्थ निकलता है। उनके विचार से "राज्यम्" का अर्थ है "राजा का कर्म"। "गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च"

(अष्टाध्यायी 5, 1, 124), इस सूत्र से ब्राह्मण आदि शब्द-गण में रखे गये "राजन्" शब्द से "राजा का कर्म" इस अर्थ में "राज्यम्" सिद्ध होता है। एक और प्रकार से भी इसी अर्थ में सिद्धि होती है : "राजन्" में "प्रत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्" (अष्टाध्यायी 5, 1, 128) इस सूत्र के अनुसार "यक्" प्रत्यय लगा कर। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि पाणिनि और मनु आदि स्मृतिकारों का इस विषय में तात्पर्य एक ही है।

पाणिनि का एक और सूत्र है : "राजश्वसुराद्यत्" (अष्टाध्यायी 4, 1, 137) —"राजन्" और "श्वसुर" पर "यत्" प्रत्यय लगता है. यों "राजन्" से "राजन्य" बनता पाणिनि के इस सूत्र पर "राजन्य"का अर्थ समझाते हुए कात्यायन का वार्त्तिक है : "राज्ञोऽपत्ये जातौ"—"जो राजा की सन्तान है और साथ ही जाति-विशेष का है" वह राजन्य है। इस प्रक्रिया से जो "राजन्य" शब्द बनता है वह "क्षत्रिय" के पर्यायों मे गिना जाता है। कहना न होगा कि यहां कात्यायन के लिये "जाति-विशेष" का अर्थ "क्षत्रिय जाति" ही है। यों कात्यायन का तात्पर्य है : राजा की क्षत्रिय-संतान ही राजन्य है, उसकी वैश्य संतान नहीं—ब्राह्मण-संतान के विहित होने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि वह प्रतिलोम होगी। 'राजानमभिषेचयेत्— राजा का अभिषेक करे", इस विधान से भी यही जाना जाता है कि जो राजा हो उसका ही अभिषेक करे— अर्थात् क्षत्रिय का अभिषेक करे : जिसमें राजत्व हो उसका अभिषेक करे। जो पहले से राजा कहलाने का अधिकारी है उसे ही अभिषेक-संस्कार का अधिकार है। हमारे देखने में भी यही आता है कि जो राजा होता है उसीका अभिषेक किया जाता है। यह दृष्ट संस्कार है। यज्ञ के लिये विधान है "यूपं तक्षति"—तात्पर्य यह कि "यज्ञ के लिये लकड़ी को छील-काट कर यूप बनाये"। यूप पहले से सिद्ध नहीं होता, छीलने-काटने के संस्कार से सिद्ध किया जाता है। यह अदृष्ट संस्कार है, क्योंकि यूप अलौकिक पदार्थ है। पर राजा पहले से सिद्ध लौकिक पदार्थ होता है। अभिषेक से उसे बनाया नहीं जाता क्योंकि "क्षत्रिय" के लिये, जो पहले से विद्यमान है, "राजा" शब्द का प्रयोग होता है।

मनु में ही इस बात के और भी प्रमाण हैं। राजधर्म के व्याख्यान का आरंभ कर मनु उसी प्रसंग में कहते हैं : "क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानां परिपालनम्"—प्रजा का पालन क्षत्रिय का परम धर्म है(मनुस्मृति 7,114),: "क्षत्रियस्यापराधेन ब्राह्मणः सीदति क्षुधा—क्षत्रिय का अपराध ब्राह्मण को भूख से तड़पाता है" (मनुस्मृति 11, 21) : "वेदाभ्यासो हि विप्रस्य क्षत्रियस्याभिरक्षणम्—वेद का अध्ययन ब्राह्मण का कर्म है और क्षत्रिय का कर्म है प्रजा की रक्षा" (मनुस्मति

10, 80)। बात पूरी करते हुए मनु कहते हैं : "क्षत्रियाय ददौ राज्यम्—ईश्वर ने क्षत्रिय को राज्य दिया"। इस सब से मनु का आशय यही निकलता है कि "राजा" का अर्थ "क्षत्रिय" ही है। इसीलिये अनेकार्थकोष भी कहता है : "राजा शशांके, क्षत्रिये, नृपे"—राजा के अर्थ हैं "चन्द्रमा", "क्षत्रिय" और "नृप"। यह सही है कि "राजा" शब्द का प्रयोग अक्षत्रिय के लिये भी होता है, पर यह लाक्षणिक प्रयोग है।

प्रश्न उठ सकता है कि ब्राह्मण राजा हो कैसे सकता है? पर इसका भी विधान मिल जाता है : "अजीवस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा। जीवेत् क्षत्रियधर्मेण स त्वस्य प्रत्यनन्तरः ॥—— ब्राह्मण के लिये जो कर्म विहित है अगर उससे वह जीविका न चला सके तो क्षत्रिय के काम से जीविका चला सकता है। क्षत्रिय ब्राह्मण के सबसे अधिक निकट है।"

सच पूछिये तो मनु राजधर्म ऐसे पुरुष के लिये बता रहे हैं जिसका सिंहासन पर अभिषेक हुआ हो। ऐसा पुरूष किसी भी वर्ण का हो सकता है। **मत्स्यपुराण** में मनु मत्स्य से जिज्ञासा करते हुए कहते हैं : "राज्ञोऽभिषिक्तमात्रस्य किन्तु कृत्यतमं भवेत्। एतन्मे सर्वमाख्यस्व सम्यग्वेत्ति यतो भवान् ॥—जिसका अभी अभिषेक हुआ ही हो ऐसे राजा का सबसे बड़ा कर्त्तव्य क्या है मुझे बताओ। तुम्हीं इस बात को ठीक से जानते हो" (**मत्स्यपुराण** 215,1)। यहां "अभिषिक्त-मात्र" और "कृत्यतमं" इन दो शब्दों पर विशेष ध्यान देना चाहिये। इनमें "मात्र" और "तम" ये प्रत्यय लगे हैं। इन से इंगित होता है कि अभिषेक के बाद ही प्रजा के पालन और उससे जुड़े दूसरे कामों में जुटा जाता है। यही बात मत्स्यपुराण में कही भी गई है : "अभिषेकार्द्रशिरसा राजा राज्यावलोकिना। सहायवरणं कार्यं तत्र राज्य प्रतिष्ठितम् ॥ —राजा को चाहिये कि सिर पर से अभिषेक-जल सूखे इसके पहले सहायक का वरण करे। सहायकों से ही राज्य की स्थिति है।" सहायक यहां मन्त्री आदि को कहा गया है।

मेधातिथि कहते हैं : "राजा" शब्द यहां "क्षत्रियजाति" का वाचक नहीं है। फिर किसका वाचक है? जिसका अभिषेक हुआ हो और जो अधिपति हो ऐसे पुरुष का वाचक है। कुल्लुक भट्ट भी ऐसी ही बात कहते हैं : "राजा" शब्द इस प्रसंग में "क्षत्रिय" अर्थ नहीं रखता। जो भी कोई अभिषिक्त किया गया हो और जनपद एवं पुर का पालन करता हो वह "राजा" है।

गौतमधर्म सूत्र का एक सूत्र है : "राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जम्—ब्राह्मण को छोड़ कर राजा सबका शासक है" (**गौतम धर्मसूत्र** 11, 1)। इसकी व्याख्या

करते हुए हरदत्त "राजा" का अर्थ "अभिषिक्त क्षत्रिय" करते हैं। विज्ञानेश्वर राजधर्मों की व्याख्या करते हुए भूमिका के रूप में कहते हैं : "साधारण गृहस्थ-धर्म की चर्चा हुई। अब उस गृहस्थ-विशेष विशेष के कर्त्तव्य की चर्चा है जिसका सिंहासन पर अभिषेक हुआ है।"

अब तक सामने रखे गये सभी पक्षों पर ठीक से विचार करें तो "राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि" कह कर आरंभ किये गये राजधर्म के इन प्रसंगों में "राजा" शब्द का अर्थ लक्षण से "नृ–प" ठहरता है, अर्थात् ऐसा पुरुष जो जनपद का स्वामी हो। और "राजा" का जो सीधा अर्थ उभर कर आता है वह है "क्षत्रिय-सामान्य"।

नृप के धर्म के विषय में **बृहत् पराशर स्मृति** बात का यों आरम्भ करती है : "अथातो नृपतेर्धर्मं प्रवक्ष्यामि हितकाम्यया—अब हित की कामना रखते हुए नृप के धर्म का वर्णन करेंगे"। विज्ञानेश्वर भी ऐसी ही बात कहते हैं : "अभिषेक-आदि गुणों से युक्त राजा का परम धर्म है प्रजा का पालन"। ध्यान देने की बात है कि राजधर्म की चर्चा में "राजधर्म" शब्द के साथ "नृप"—जनपद का शासक—शब्द का प्रयोग आता है। इसलिये लोक में ऐसे पुरुष को भी "राजा" कह देते हैं जिसका अभिषेक न हुआ हो पर जो जनपद का स्वामी हो। मिता-क्षरा का भी यही कहना है। कहा है : "यही ठीक है कि राजधर्म का वर्णन राजा के लिये ही किया गया है पर किसी अंचल— मण्डल —के परिपालन का जिसे अधिकार हो, यह धर्म ऐसे क्षत्रिय-भिन्न अन्य वर्ण के पुरुष के लिये भी है ही। यह अभिप्राय "राजधर्मं प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः" मनु की इस पंक्ति से स्पष्ट निकलता है। "राजा के धर्म" कह देने के बाद भी यहां "नृप" के अलग से प्रयोग की सार्थकता तभी बनती है जब कि बात केवल क्षत्रिय के लिये नहीं शासक-मात्र के लिये कही जा रही हो। "कर-ग्रहण रक्षण के लिये किया जाता है और रक्षण के लिये दण्ड का प्रयोग आवश्यक होता है। जो कर ले और रक्षा करे वही नृप—नर-पालक— होता है, चाहे वह किसी भी वर्ण का क्यों न हो।" राजधर्म को नृपमात्र के लिये विहित समझना चाहिये" (**मिताक्षरा** 1, 368)। आगे **मिताक्षरा** में यही बात और भी प्रकट भाव से कह दी गई है : "यहां "नृप" शब्द के प्रयोग का एक विशेष आशय है : जिस धर्म की यहां चर्चा है वह केवल क्षत्रिय के लिये ही नहीं है, ऐसे सभी पुरुषों के लिये है जो प्रजा का पालन करते हों"। इससे बात यही उभर कर आती है कि सिंहासन पर बैठते समय जिसे वेद-विहित अभिषेक का अधिकार न हो उसका अभिषेक पुराणों के प्रयोग से कर देना चाहिये। (कहते हैं कि शिवाजी का अभि-

षेक इसी प्रकार हुआ था)। इस मीमांसा से ऊपर जो **मत्स्य पुराण** का विधान आया है: "अभिषेकार्द्र शिरसा·······अभिषेक के तुरंत बाद राजा सहायक का वरण करे" वह भी संगत हो जाता है।

इस विषय में अपरार्क का मत यह है: "प्रजा के पालन का विधान ऐसे क्षत्रिय के लिये है जो राज्य करता हो। पर कोई अक्षत्रिय भी अगर यह क्षत्रिय-कर्म करे तो उसका भी वही धर्म होगा। क्योंकि जैसा काम वैसा ही कर्त्तव्य।" (1, 36?)। स्पष्ट है कि अपरार्क के मत में "राजा" शब्द का अर्थ ऐसा क्षत्रिय है जिसका सिंहासन पर अभिषेक हुआ हो। ऐसे पुरुष के लिये ही प्रजा-पालन का विधान है। पर हमने ऊपर जो युक्तियां दी हैं उनके आधार पर यह मत संगत नहीं है।

निष्कर्ष यही निकलता है कि "राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि·······"श्लोक में आया "राजा" शब्द का संकेत उस व्यक्ति की ओर है जिसे प्रजा-पालन का अधिकार हो। "धर्म" का यहां अर्थ है "कर्त्तव्य"। श्लोक में मनु कह रहे हैं कि राजा के जो भी कर्त्तव्य हैं: षाड्गुण्य आदि और अग्निहोत्र आदि, सब का वर्णन करूंगा। इन धर्मों में मनु ने यहां मुख्य रूप से उनका ही वर्णन किया है जिनका प्रयोजन दृष्ट—लौकिक—है। अदृष्ट प्रयोजन वाले धर्मों का तो साधारण धर्मों के प्रसंग में पहले ही वर्णन हो चुका है। इसीलिये **मनु-व्याख्या** नाम की टीका में कहा गया है कि "साधारण वेद-विहित संस्कार से संस्कृत होकर राजा को प्रजा पालनआदि अपने विशेष कर्त्तव्यों की ओर ध्यान देना चाहिये।

ए–37/38, विश्वमित्र मार्ग,
श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर–302019

प्रोफेसर दयाकृष्ण के लेख "श्रुति के दो परस्पर विरोधी परंपराओं के प्रवर्त्तक जैमिनि और बादरायण" पर एक टिप्पणी

प्रोफेसर दयाकृष्ण ने **उन्मीलन** के पिछले अंक में प्रकाशित अपने उपर्युक्त शीर्षक लेख में वेद तथा उपनिषत् के सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्रस्तुत की है। साथ ही उन्होंने पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा या वेदान्त दर्शनों या इन दर्शनों के रचयिता जैमिनि एवं बादरायण के वेद तथा उपनिषत् सम्बन्धी भूमिका के सम्बन्ध में कुछ आक्षेप उपस्थित किये हैं। समग्र लेख को कई बार पढ़ लेने पर भी यह स्पष्ट नहीं होता कि लेखक महोदय वेद तथा उपनिषत् की रचना को अव्यवस्थित कहना चाह रहे हैं या समूचे वैदिक वाङ्मय को अप्रमाण सिद्ध करना चाहते हैं अथवा जैमिनि तथा व्यास को वेदार्थ का विपर्यासक जतलाना चाहते हैं? यदि वैदिक वाङ्मय सही ढंग से संरचित न होने से वह प्रमाण मानने लायक न हो तो जैमिनि और व्यास पर दयाजी द्वारा लगाये गए आरोप बेबुनियाद हो जाते हैं। दया जी ने वैदिक वाङ्मय के सम्बन्ध में जो तथ्य प्रस्तुत किये हैं वे सामान्य भारतीयों को अज्ञात होने पर भी इस वाङ्मय का अध्ययन करने वालों को अच्छी तरह ज्ञात रहते हैं। दो-एक ग़लत बातें भी दया जी ने इस सन्दर्भ में लिख डाली हैं। जैसे "एको न श्रुतिः यस्य मतः प्रमाणं" जैसा ग़लत वाक्य दया जी ने प्रारम्भ में ही उद्धृत किया है। सही वाक्य महाभारत में है और वह इस प्रकार है : "वेदा विभिन्नाः श्रुतयो विभिन्नाः, नैको मुनिः यस्य वचः प्रमाणम्"। आगे चल कर दया जी कहते हैं कि जैसे शुक्ल यजुर्वेद का शतपथ ब्राह्मण इस वेद-शाखा की संहिता से गतार्थ नहीं है वैसे कृष्ण यजुर्वेद का ब्राह्मण भी नहीं है। यह बात सही नहीं है। कृष्ण यजुर्वेद की संहिता तथा उसका ब्राह्मण इनके विषय अलग अलग हैं। कृष्ण यजुर्वेद संहिता का आरम्भ "इषेत्वोर्जेत्वा वायवः स्थोपायवः स्थ ...." मंत्र से होता है जिसका विषय एक यज्ञीय देवता का आह्वान है। इसी वेद के ब्राह्मण ग्रंथ का आरम्भ "ब्रह्म सन्धत्तं तन्मे जिन्वतं, क्षत्रं सन्धत्तं तन्मे जिन्वतम्" जैसे मंत्र से होता है जिसका प्रतिपाद्य नितान्त भिन्न है। उक्त संहिता और ब्राह्मण के विषयों का भेद अन्त तक बना रहता है।

वैदिक संहिता, ब्राह्मण ग्रादि की रचना के सम्बन्ध में दया जी ने जो ग्रनेक बातें लिखी हैं उन से सम्भवतः वे यह सूचित करना चाहते हैं कि वेदों या उनकी शाखाओं का कोई परिनिष्ठित स्वरूप है ही नहीं। यदि दया जी का यही ग्रभि-प्राय हो तो उस पर हम दो बातें कहना चाहेंगे। पहली बात यह है कि ग्राज वैदिक वाङ्मय जिस रूप में उपलब्ध है वह व्यास के द्वारा निर्धारित है। वसिष्ठ, वामदेव, अत्रि, कण्व ग्रादि ऋषियों के परिवारों में वंश-परंपरया जो मंत्र रचित, संकलित तथा ग्रधीत पाये गए उन्हें एक विशेष सिद्धान्त के आधार पर विभिन्न शाखाओं, उपशाखाओं ग्रादि के रूप में व्यास ने संकलित किया। दूसरी बात यह है कि व्यास सभी मंत्रों का पूर्णतया एक ही सिद्धान्त के ग्रनुसार संकलन कर पाये ऐसा प्रतीत नहीं होता। कुछ मत्रों का स्थान इस संकलन में निश्चित नहीं हो पाया ऐसा माना जा सकता है। ये मंत्र उपलब्ध हैं ग्रौर पढ़े भी जाते हैं ग्रौर वैदिक ग्रध्ययन-ग्रध्यापन की परम्परा ने इन मंत्रों को भी ग्रन्य वैदिक मंत्रों के समान यथावत् बचा कर रखा है। इन्हें प्रमाण न मानने का प्रश्न नहीं उठाया जा सकता। यदि शेष वेद प्रमाण हैं तो ये मंत्र भी प्रमाण हैं। उपनिषदों के सम्बन्ध में भी यही बात सही है। 'कुछ उपनिषदें किसी ब्राह्मण या ग्रारण्यक का ही ग्रंग हैं, कुछ में वैदिक मंत्रों की पुनरावृत्ति है, कुछ केवल संकलनात्मक हैं' इत्यादि बातें जो दया जी ने विस्तार के साथ लेख में प्रस्तुत की हैं वे उपनिषदों के स्वरूप या प्रामाण्य को कोई ग्राघात नहीं पहुँचा सकतीं। यदि सभी उपनिषदें संहिता, ब्राह्मण या आरण्यक में ही अन्तर्भूत होतीं तो भी उनके प्रतिपाद्य विषय के नावीन्य तथा महत्त्व के कारण उत्तरकालीन ग्राचार्य उन्हें स्वतंत्र प्रस्थानों के रूप में मान्यता प्रदान करते ग्रौर उन्हें वेदों के सामान ही स्वतंत्र प्रमाण ठहराते। यह बात आक्षेपार्ह कैसे हो सकती थी? ग्राजकल भिन्न-भिन्न लेखकों की कृतियों में से छोटे-बड़े ग्रंश एकत्रित कर अनेक संकलनात्मक ग्रंथ तैयार किये जाते हैं ग्रौर पढ़े जाते हैं। इन ग्रंथों में विभिन्न लेखकों की रचनाएं एक ही स्थान में पढ़ने के लिए प्राप्य होती हैं। क्या उप-निषदों को ऐसे संकलनों के रूप में नहीं देखा जा सकता? क्या प्रमाणता के लिए प्रत्येक उपनिषत् का एक स्वतंत्र संहितादि-निरपेक्ष ग्रंथ होना ग्रावश्यक है?

दया जी कहते हैं कि 'उपनिषदों की रचना उत्तरवैदिक काल के बाद भी होती रही जिसके कारण बीसियों उपनिषदें लिख डाली गईं किन्तु इनमें से केवल तेरह-चौदह ही प्रामाणिक मानी गईं ग्रौर उन पर भाष्य लिखे गए। ऐसा क्यों हुग्रा? ग्रन्य उपनिषदों की उपेक्षा क्यों की गई?' इस प्रश्न का सीधा उत्तर यह है कि ग्रन्य उपनिषदों में वेदान्त की दृष्टि से विचारणीय कोई नई बात दृग्गोचर नहीं होती। जैसे भगवद्गीता के समान ग्रनेक गीतायें महाभारत के विभिन्न पर्वों में संगृहीत

हैं लेकिन इन अन्यान्य गीताओं पर (अष्टावक्र गीता को छोड़ कर) आचार्यों ने टीकाएं नहीं लिखीं क्योंकि इनके विषय भगवद्गीता में अन्तर्भूत हैं। इसी प्रकार तेरह उपनिषदों (ईश, केन, प्रश्न, मुंडक, मांडूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर, नृसिंह पूर्वतापिनी तथा नृसिंहोत्तर-तापिनी)। अन्य उपनिषदों के विषय गतार्थ हैं या वे कोई आध्यात्मिक महत्त्व नहीं रखते, इसी कारण इनको वैदिक वाङ्मय का अंग नहीं माना गया।

आगे चलकर दयाजी मीमांसा तथा वेदान्त की वेदार्थ विषयक भूमिका पर आक्षेप उपस्थित करते हैं कि मीमांसा वेद-अन्तर्गत विधि-निषेध वाक्यों को ही प्रमाण मानती है जबकि वेदान्त उपनिषदों के सत्य-तत्त्व के वर्णनपरक वाक्यों को ही प्रमाण समझता है, समग्र वेद को न मीमांसा प्रमाण मानता है और न वेदान्त ही मानता है। यह बात एक माने में सही है। वेद एक विश्वकोष के समान है। उसमें प्रतिपादित सभी बातों को प्रमाणता के एक ही स्तर पर नहीं रखा जा सकता। उनमें गौण-मुख्य भेद तो करना ही होगा। उपर्युक्त दोनों दर्शनों ने अपने-अपने मतानुसार वेद तथा उपनिषदों का उपयोग किया है। यदि ये समग्र वेद को एक-जैसा ही मानते तो अधिक से अधिक वे वेदों के भाष्य ही लिख पाते, नयी दार्शनिक दृष्टियों की उद्भावना नहीं कर सकते थे। मीमांसा ने विधि-निषेध-वाक्यों की प्रमाणता के आधार पर वाक्यार्थ-निर्णय के शास्त्र का निर्णय किया, कर्त्तव्याकर्त्तव्य से सम्बद्ध नीतिशास्त्र का निर्माण किया और इसके अनुरूप तत्त्वमीमांसा तथा ज्ञानमीमांसा का भी निर्माण किया। वेदान्त ने महा-वाक्य आदि के आधार पर अपने आध्यात्मिक दर्शन का निर्माण किया। क्या ये सब निर्मितियां महत्त्वपूर्ण उपलब्धियां नहीं हैं?

यहां प्रश्न हो सकता है कि यदि एक ही वेद के व्याख्या-भेद से कर्म-प्रधान तथा ज्ञान-प्रधान परस्पर विरुद्ध विचार-परम्पराएं उद्भावित हो सकती हों तो क्या इनमें किसी एक को भी प्रमाण माना जा सकता है, अथवा क्या इनमें आधारभूत समझे गए वेद को ही प्रमाण माना जा सकता है? ऐसा प्रश्न एक विशेष सन्दर्भ में वेद में ही उपस्थित किया गया है और उसका यह उत्तर दिया गया है कि देवता गण कभी कभी सीधी बात को भी घुमा-फिरा कर प्रस्तुत किया करते हैं। जैसे, जो अग्नि 'पंच हुत' है उसे देवता गण 'पंच होता' कहते हैं। इस पर से यह सूचित होता है कि वेद-वाक्यों के कई तरह के अर्थ निकाले जा सकते हैं। हो सकता है कि मीमांसा और अन्यान्य वेदान्त दर्शनों ने संहिता तथा उपनिषत्-वाक्यों के जो विभिन्न अर्थ निर्धारित किये हैं वे सब वेदों के रचयिताओं को अभिप्रेत हों! ऐसा न भी हो तो भी इन वाक्यों से विभिन्न, और परस्पर विरोधी भी, अर्थ निष्कृष्ट किये जा सकते हैं तो ऐसा करने में हर्ज

क्या है ? मीमांसा का प्रामाण्य-निकष और वेदान्त का प्रामाण्य-निकष एक ही हो, यह आवश्यक क्यों है ?

दया जी ने यदि वेद-प्रामाण्य या परम्परा-प्रामाण्य की समस्या को एक व्याख्या मीमांसीय (हर्मेन्यूटिकल) समस्या के रूप में उपस्थित किया होता तो उसकी अन्य प्रकार से, एक दार्शनिक समस्या के रूप में, चर्चा की जा सकती थी। लेकिन उन्होंने वैदिक वाङ्मय के स्वरूप या संरचना की समस्या को ही अपने लेख में प्राधान्य दिया है जिससे कोई महत्त्वपूर्ण दार्शनिक प्रश्न उनके लेख में ठीक तरह नहीं उभर पाया है।

नारायण शास्त्री द्राविड़

उन्मीलन-गोष्ठी की कार्यवाही

17 सितंबर, 1992 का राजस्थान विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में "उन्मीलन-गोष्ठी" की बठक हुई। इसमें डा. (कु.) सरला कल्ला ने उन्मीलन के जुलाई, 1990 अंक में प्रकाशित मेरे लेख "कला का अन्वेष्य" पर, डा. मुकुन्द लाठ की उस पर टिप्पणी को सम्मिलित करते हुए, अपनी समीक्षा-टिप्पणी प्रस्तुत की और उसके बाद मैंने डा. मुकुन्द लाठ की समीक्षा-टिप्पणी में उठाये गए प्रश्नों पर अपने स्पष्टीकरण पढ़े तथा सरला जी की टिप्पणी में उठाये गए प्रश्नों के उत्तर दिये। सरला जी की समीक्षा और दोनों समीक्षाओं में उठाये गए प्रश्नों के मेरे उत्तर यहां संकलित किये जा रहे हैं। उसके बाद डा. दयाकृष्ण, डा. राजेन्द्रस्वरूप भटनागर, डा. के एल. शर्मा, डा. मुकुन्द लाठ तथा डा. योगेश गुप्ता ने भी विचारविमर्श में भाग लिया। खेद है कि इसका विवरण हम यहां नहीं दे पा रहे हैं।

यशदेव शल्य

कला का अन्वेष्य : कुछ समस्याएं

1. शल्यजी का लेख 'कला का अन्वेष्य'[1] कला के बारे में नितांत मौलिक विचार प्रस्तुत करता है। लेख के शीर्षक से ही लेखक के विचार की एक दिशा का संकेत मिलता है। कला एक अन्वेषण है, यानि पहले से कुछ है और उसके प्रति सचेतन होता हुआ कलाकार उसे खोजता है। कला अन्वेषण है, पर रस का नहीं, सौंदर्य का नहीं, अपितु सत्य का अन्वेषण है—वह सत्य जो विषयी के भाव-जगत् का सत्य है, जिसमें "भावना अपने में निगूढ़ अर्थ का विमर्श अपने में पुनर्निविष्ट होकर, अपने साथ तदात्म होकर, करती है।"[2] इसी आशय का दूसरा उद्धरण देखिए— "कला का अन्वेष्य सौंदर्य नहीं होकर ऐसा अर्थ होता है जो विषयिता की गहन गुफाओं में निमीलित जैसा रहता है और जिसका साक्षात्कार हम आत्मयौगपद्य द्वारा ही कर सकते हैं।"[3]

2. इन उद्धरणों से ऐसा प्रतीत होगा कि कला में अर्थ को अनावृत किया जाता है। यदि ऐसा है तो कला के संदर्भ में सृजन का क्या तात्पर्य रह जायेगा ? शल्यजी के सामने सीधे ही यह प्रश्न प्रस्तुत होता है और वे कहते हैं कि "कला को जो सृजनात्मक कहा जाता है उसका अर्थ यह है कि यहां भावना स्वयं अर्थ रूप में विर्वतित होती है और इस विवर्तन की साक्षात्कारी होती है।"[4] यहां अर्थ

का विर्वातित होना अर्थ के आविर्भूत होने जैसा है, अनावृत होने जैसा नहीं है, इस रूप में कि "भावनात्मक अवगाहन में········अर्थ चेतना के रूपान्तरण के रूप में नव्योत्पन्न जैसे ही प्रतीत होते हैं।"[5]

3. कला में भावना के इस आविर्भूत अर्थ, जिसे शल्यजी "भावित अर्थ" कहते हैं, का अनुकरण किया जाता है, इस भावित अर्थ का किसी उपयुक्त माध्यम में अनुकरण कला है। कला इसी अर्थ में अनुकरणात्मक होती है। यह ध्यान में रखने योग्य बात है कि यह अर्थ इन्द्रियगम्य न होकर प्रतिभागम्य होता है और इस प्रकार कला सत्य को ही लक्षित करती है। शल्यजी के अनुसार भावित अर्थ उतना ही यथार्थ होता है जितना वस्तु-जगत् से संबंधित प्रत्यय या अर्थ वास्तविक होता है। कला इस भावित अर्थ के सत्य को प्रस्फुटित करती है। सौंदर्य कला का साध्य नहीं है, जैसाकि अक्सर माना जाता है। शल्यजी सौंदर्य को ही साध्य मानने वाली विधा को शिल्प कहते हैं। यदि उसे कला कहें भी तो यह कला उस कला से हीन स्तर की होगी जिसका अन्वेष्य सत्य होता है। शल्यजी के अनुसार कला में चित्रित सौंदर्य भी अर्थ-व्यंजना का ही एक माध्यम होता है।

4. अर्थ की कलात्मक अभिव्यक्ति किसी दार्शनिक प्रतिपादन से मूलतः भिन्न है। वह न किसी घटना का वर्णन या साधारणीकरण है, न ही किसी सार्वभौमिक सत्य का प्रतिपादन है। कला विशिष्टपरक होती है (यह द्रष्टव्य है कि कला को वैयक्तिक नहीं कहा जा रहा है) सामान्यीकरण उसका लक्ष्य नहीं होता और यदि सामान्यीकरण संभव होता भी है तो भी वह परोक्ष ही होता है। हम यहां यह भी जोड़ सकते हैं कि कोई कृति अपने निष्कर्ष में, कथ्य में, नितांत विशिष्ट बनी रहे तो भी उसकी कलात्मक गुणवत्ता में इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता।

5. मैं समझती हूं कि शल्यजी के लेख की यह मूल धारा है, इस लेख की कुछ मूल स्थापनाएं मुझे समस्यात्मक जान पड़ती हैं। मुकुन्द जी ने अपने लेख में कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर शल्यजी के विचार से अपना मत-भेद प्रकट किया है और इसके मूल में उनकी दृष्टि सतत रूप से मूर्त व अमूर्त कलाओं के तात्त्विक भेद पर रही है। मैं उनके इस मत से सहमत हूं कि शल्यजी का चिंतन संगीत जैसी कला के उपयुक्त नहीं ठहरता। शल्यजी ने अपनी बात कहने के लिए साहित्य से, और कहीं कहीं चित्रकला से, उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। मैं इनमें उठने वाली कुछ समस्याओं पर चर्चा करूंगी। पहले एक बात यह है कि शल्यजी ने सहृदय के नाते कलाकार के अनुभव पर चर्चा की है पर सारी चर्चा में कला के व्यापार में सहृदय की भूमिका तो छूट ही गई है। शल्यजी का तमाम विवे-

चन इसी पर केन्द्रित रहा है कि कलाकार का कला से क्या संबंध है, उसके लिए कला का प्रयोजन क्या है ? बात यहां से आरम्भ होती है, यहीं समाप्त भी हो जाती है। उन्होंने कला को ऐसी किसी प्रक्रिया के रूप में नहीं देखा है जिसमें कलाकार और सहृदय के बीच संवाद होता हो या सहभागिता हो। कला के विवेचन में जो यह पक्ष छूट गया है वह अनायास नहीं है। कला का जो अन्वेष्य शल्यजी के सामने है उसका नाता कलाकार से ही अधिक हो सकता है। पर इसकी चर्चा बाद में।

6. मुकुन्दजी ने शल्यजी के मत को बहुत अच्छी तरह प्रस्तुत किया है। मैं उसमें एक संशोधन करना चाहती हूँ। उन्होंने लिखा है कि शल्यजी के अनुसार कला भी ज्ञान की ही साधना है। शल्यजी ने न तो यह कहा है न उन्हें यह अभिप्रेत ही है। शल्यजी ने कहा है कि कला सत्य की साधना है। ये दोनों बातें एक नहीं हैं, हालांकि हम अक्सर सत्य को ज्ञान से ही जोड़ते हैं। शल्यजी ने अपने तौर पर सत्य को व्यापक धरातल देने की चेष्टा की है कि सत्य ज्ञानात्मक ही नहीं होता, भावात्मक भी होता है, सामान्यीकृत ही नहीं होता, विशिष्टपरक भी होता है। इससे भी महत्त्व की बात मुझे यह लगती है कि शल्यजी ने मानवीय चेतना के, जिसे उन्होंने इस संदर्भ में आत्मचेतन चेतना कहा है, दो भिन्न आयामों : ज्ञानात्मक और भावनात्मक: की बात की है और दोनों ही को, यदि मैं गलत नहीं हूँ तो, बराबर की तात्त्विक प्रतिष्ठा देने की चेष्टा की है, दोनों ही की स्वतंत्र व स्वायत्त स्थिति है यह बताने की चेष्टा की है। पर अभी मैं उस बात पर आती हूँ जहां शल्यजी का विचार मुझे समस्यात्मक जान पड़ता है।

6. शल्यजी कहते हैं कि कला सत्य को लक्षित करती है। वह सत्य विषयी का सत्य है। कोई दृश्य, घटना, व्यक्ति या स्थिति, कलाकार में कोई भाव जाग्रत करती है, वह उस भाव को अर्थ देता है, उसे अपने समक्ष अभिव्यक्त करता है, उपयुक्त माध्यम में उसे आकार देता है और वह कला के रूप में फलित होता है। यहां विषयी अपनी विषयिता के ही किसी आयाम को देखता है और उस साक्षात्कार या बोध के ज़रिए सत्य या सत् के किसी पक्ष को देख पाता है। शल्यजी के विवेचन में सत्य का प्रत्यय जिस रूप में सामने आता है वैसे ही ग्रहण करें तो प्रश्न उठता है कि कला में असत्य क्या होगा ? कोई स्थिति, घटना, दृश्य कलाकार में किसी भाव-बोध को उद्भासित करता है। इस स्थिति, घटना या दृश्य का रिश्ता काल्पनिक हो सकता है, वास्तविक हो सकता है और कई वास्तविक स्थितियों का काल्पनिक मिश्रण हो सकता है। पर किसी भी सूरत

में उस भाव-बोध की अभिव्यक्ति की "कलात्मकता" पर इससे कोई फर्क नहीं पड़ता, वह भाव-बोध उस कलाकार की चेतना का यथार्थ है और अपने माध्यम में वह उसे व्यक्त कर रहा है. इसमें "असत्य" क्या होगा ? या प्रश्न को दूसरी तरह से कहें कि "ऐसी कौन सी स्थिति है जिसमें यह कहा जा सके कि कलाकार का भावबोध या अभिव्यक्ति असत्य है ?" प्रश्न यह नहीं है कि कोई दूसरा व्यक्ति सत्यता या असत्यता की जांच कैसे करे, बल्कि स्वयं कलाकार के लिए ही असत्य क्या होगा ? कोई एक भाव-बोध उसकी चेतना का यथार्थ है तो है ही, उसका होना ही उसकी सत्यता है । क्या कला एक ऐसा दायरा है जहां सत्य की कोटि सार्थक रूप से लागू होती है और असत्य की नहीं ?

8. इसी बिन्दु से एक दूसरा प्रश्न उठता है । शल्यजी कहते हैं कि कलाकार कला में व्यंजनात्मक अर्थ को प्रस्तुत करता है । यह ठीक है, अब व्यंजना एक तरह का रूपांतरण है, और यह भी ठीक है कि कई व्यंजनाएं संभव हो सकती हैं । पर क्या सभी व्यंजनाएं समान रूप से मूल्यवान् होती हैं । यदि हम उनमें भेद करते हैं तो किस आधार पर ? प्रत्येक अभिव्यक्ति समान स्तर की नहीं होती और इससे पूर्व तो यही प्रश्न उठता है कि वह अभिव्यक्ति "कलात्मक" भी है या नहीं ? अब, यदि प्रत्येक कलाकार अपने भाव-बोध के व्यंजनात्मक अर्थ को व्यक्त कर रहा है और इस रूप में प्रत्येक विषयी अपने विशिष्ट सत्य को ही व्यक्त कर रहा है तो किसी अभिव्यक्ति की "कलात्मकता" भावबोध की सत्यता पर तो निर्भर नहीं कर सकती । "कलात्मकता" की कसौटी सत्य से इतर ही होगी । यदि ऐसा है तो हमें यह मानना होगा कि कला की परिभाषा में उसका प्रयोजन "लक्षण" के रूप में विद्यमान नहीं होता । मैं समझती हूं कि कला में सत्य की कोटि की भूमिका पर स्पष्टीकरण अपेक्षित है क्योंकि शल्यजी के लेख की यह मूल स्थापना है ।

9. अब दूसरी स्थापना की ओर मुड़ें । शल्यजी कहते हैं कि कला अनुकरणात्मक होती है, कलाकार की चेतना में उद्भूत भाव-बोध या विवर्तित अर्थ का उपयुक्त माध्यम में अनुकरण कला है । अब देखिए कि, भावना का अर्थ में विवर्तित होना कम से कम उस भाव के प्रति सचेतन हो जाना तो है ही, या उसे चेतना के स्तर पर अभिव्यक्त कर लेना है । यदि आप साहित्यकार हैं तो उसे भाषायी अभिव्यक्ति देंगे । फिर उस अभिव्यक्ति के कला में अनुकरण का क्या अर्थ होगा ? भावना के अर्थ-रूप में विवर्तित होने में और उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति में शल्यजी एक व्यवधान मानते हैं । यदि नहीं मानें तो एक का दूसरे में अनुकरण कहा ही नहीं जा सकेगा । पर यह देखने की बात है कि अनुकरण किसका

किया जा सकता है ? जब कोई आकृति, विचार या भाव स्पष्ट हो जाये और कोई सुनिश्चित रूपाकार ले ले तो उसके बाद ही हम उसका अनुकरण कर सकते हैं। जैसे बने हुए चित्र का अनुकरण करें या तान को पुनः दोहरा दें। लेकिन क्या कोई आकृति, विचार या भाव बिना किसी माध्यम के सहारे पहले ही स्पष्ट हो जाता है कि आप उसका बाद में माध्यम में अनुकरण करते हैं ? होता तो यह है कि बात कहते कहते, चित्र बनाते बनाते ही कवि या चित्रकार को स्पष्ट होता है कि वह क्या कहना चाहता है या बनाना चाहता है। कलाकार के मन में ऐसी कोई धारणा या आकृति पहले ही स्पष्ट नहीं हो जाती जिसका कि वह बाद में अपने माध्यम में अनुकरण करता हो। यहां कॉलिंगवुड का यह मत प्रासंगिक जान पड़ता है कि कला होती ही वह है जहां कलाकार को पहले यह स्पष्ट नहीं होता है कि वह अपनी कृति को अंतिम रूप से क्या आकार देने वाला है। उसकी सृजन की क्षमता अनेक संभावनाओं में से किसी एक संभावना को चरितार्थ कर देगी (जहां पहले यह स्पष्ट हो कि कृति क्या होगी, कॉलिंगवुड उसे शिल्प कहते हैं। जैसे मेज़ बनाना शिल्प है।) हम कह सकते हैं कि भावना का अर्थ-रूप में विवर्तन माध्यम के सहारे से ही हो सकता है। इसलिए 'पहले अर्थ का विवर्तित होना व बाद में उसका माध्यम में अनुकरण कला है' यह कहना कुछ ठीक नहीं जँचता। यह बात एक तरफ कला के अनुकरणात्मक कहे जाने की व भावित अर्थ के संप्रत्यय की कठिनाई की ओर संकेत करती है और दूसरी तरफ माध्यम के महत्त्व की ओर ध्यान आकृष्ट करती है। माध्यम की महिमा पर मुकुन्द जी ने खूब लिखा है, इसी का एक पक्ष और भी है। अर्थ की अभिव्यक्ति किसी भी माध्यम में क्यों न हो, माध्यम स्वयं इतना सशक्त होता है कि वह कलाकार के अभिप्रेत अर्थ तक ही सीमित नहीं रहता, उससे आगे बढ़ जाता है। यही वजह है कि हम एक ही कविता या शेर के कई मायने निकालते हैं, वे भी जो शायद कलाकार की अपनी सोच से भी परे होते हैं। इसलिए माध्यम उपकरण नहीं होता। (संगीत की परम्परा में हम माध्यम के साथ ही किसी कलाकार को संज्ञापित करते हैं कि ये गायक हैं या सितारवादक हैं) कलाकार का माध्यम से मैत्री-भाव का सा ही संबन्ध रहता है। कभी आप माध्यम को पकड़ते हैं, कभी माध्यम आपको पकड़ता है। मुझे लगता है कि यह बात कला में ही नहीं उन सभी स्थितियों में सच है जहां मानवीय प्रतिभा के किसी गहरे धरातल पर बात होती है, चाहे हम भावात्मक या कि वैचारिक धरातल की बात करें। हम विचारों को भाषा देते हैं और भाषा पुनः नये विचार जगाती है।

10. किसी कलाकार की प्रतिभा के दो पक्ष होते हैं। एक तो उसका भावनात्मक

स्पंदन कैसा है और दूसरे, माध्यम पर उसकी पकड़ कैसी है। वैचारिक स्तर-भेद होते हैं, हम यह बात अक्सर कहते हैं। और मानते भी हैं। मुझे लगता है कि भावना के भी स्तर-भेद होते हैं। विविधता को लेकर, गहराई को लेकर या नयेपन को लेकर। कला के लिए जरूरी है कि या तो बात नई हो या कहने का तरीका नया हो, या कि दोनों ही नए हों। यदि भाव नया होगा तो वह अपने लिए नई अभिव्यक्ति भी खोज लेगा, पर हर तरह का नयापन सृजन नहीं होता न ही हर तरह से कहना कला होता है। यही वजह है कि कलात्मकता इसमें भी निहित है कि "क्या कहा गया", पर इसमें भी कि "कैसे कहा गया ?" अज्ञेयजी की जिस कविता को शल्यजी ने उद्धृत किया है,[7] वह अपने कथ्य के साथ-साथ अपनी विशिष्ट अभिव्यक्ति को लिए हुए ही कविता हो सकी है, वरना जीवन के सामान्य लौकिक अनुभव के सामने प्रेम के अलौकिक अनुभव की पराजय की बात हम करते ही हैं। एक संघटना को देखते हुए भी, उसकी मेरे समक्ष उपलब्धता के बावजूद वह मुझे किसी काव्यात्मक अभिव्यक्ति के लिए अन्य वस्तु के रूप में नहीं सूझती। कलाकार की प्रतिभा उसके चयन में तो है ही, उसके प्रस्तुतीकरण में भी है। कला में अन्तर्वस्तु (कांटेंट) की बात शल्यजी ने बहुत कही है लेकिन उसकी अभिव्यक्ति के आकारिक पक्ष (फोर्म) पर नहीं के बराबर कहा है। यह बात और है कि कोई यह भी मत रख सकता है कि कला में कथ्य व अभिव्यक्ति दोनों एक-दूसरे से गुँथे हुए ही रहते हैं।

11. साहित्य से चित्रकला होते हुए संगीत तक पहुंचते पहुंचते कला का आकारिक पक्ष प्रबल होता जाता है और अर्थ-वैभव कम होता जाता है। संगीत में अर्थ या सत्यता की बात ही ठीक नहीं लगती। इसके बावजूद शल्यजी को लगा है कि उनका चिंतन संगीत व गीतिकाव्य के लिए सहज ही उपयुक्त है,[8] क्योंकि इन दोनों ही में भावना के आत्मनिरूपण की बात सहजता से कही जा सकती है। ऐसा उन्हें लगता है, किसी संगीतकार का अनुभव यह नहीं है कि वह अपने भावित अर्थ को स्वरों में अभिव्यक्ति देता है।

12. साहित्य में यह ठीक लग सकता है कि कलाकार कुछ संप्रेषित करना चाहता है और वह सत् के ही किसी पक्ष को उजागर करता है : उस पक्ष को जिसने उसे आकृष्ट किया है। पर सत् का दूसरा पक्ष भी हो सकता है जो किसी अन्य के भाव-बोध का विषय होता है और दूसरा बोध पहले वाले बोध से बिल्कुल उलट हो सकता है। पर हम कला के क्षेत्र में इन्हें विरोधी मानते हुए उस विरोध को दूर करने की चेष्टा नहीं करते जैसा कि दर्शन में करते हैं। दो भिन्न भावबोधों की अभिव्यक्तियों में हम "सत्य" दोनों ही को मान सकते हैं और फिर

भी फ़र्क करते हैं तो किसी और लक्षण को सामने रखते हुए करते हैं। शायद वह अंतर परिष्कृत सौंदर्य-बोध या रसानुभूति का होता है। यह अनुभूति कला का प्रयोजन है या नहीं यह मैं अभी नहीं कह रही हूँ, वह उसका प्रतिफल ज़रूर होती है। एक सहृदय को यही स्थिति कलाकार से जोड़ती है। कलाकार अपने को व्यक्त करते हुए और सहृदय उसको देखते, सुनते हुए, परिमार्जित आनंद का अनुभव करता है। दोनों इस प्रक्रिया में सहभागी बनते हैं और यह सहभागिता कला की विकास-यात्रा को संभव बनाती है।

सरला कल्ला
दर्शन विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर

टिप्पणियाँ और संदर्भ

1. यशदेव शल्य – "कला का अन्वेष्य", उन्मीलन वर्ष 6, अंक 2
2. वही, पृष्ठ 84
3. वही, पृष्ठ 94
4. वही, पृष्ठ 84
5. वही, पृष्ठ 85
6. मुकुन्द लाठ – 'शल्य जी का कला का अन्वेष्य" उन्मीलन, वर्ष 6, अंक 2
7. यशदेव शल्य — वही, पृष्ठ 97.

कला का अन्वेष्य लेख की समीक्षा में डा. मुकुन्द लाठ तथा डा. सरला कल्ला द्वारा उठाये गए कुछ प्रश्नों पर विचार

मुकुन्द जी ने मेरे लेख पर विस्तृत समीक्षा लिख कर पिछली उन्मीलन-गोष्ठी में पढ़ी और बहुत से मूल्यवान् प्रश्न उठाये, उसके लिए मैं उनके प्रति बहुत आभारी हूं। मेरा लेख और मुकुन्द जी की समीक्षा **उन्मीलन** के पिछले अंक में प्रकाशित हुए थे। मुकुन्द जी की समीक्षा सुनते हुए मुझे लगा था कि उन्होंने मेरे विचार ठीक ही प्रस्तुत किये हैं, किन्तु पढ़ने पर पाया कि मेरे कुछ मूलभूत प्रतिपादन उन्हें सम्यक् रूप से संप्रेषित नहीं हो पाये हैं। इसका बहुत बड़ा कारण यह है कि मेरा लेख एक पुस्तक का छठा अध्याय है, परिणामतः इसके कुछ सूत्र हैं जो पहले के अध्यायों में, विशेषतः "सृजन और सत्य" शीर्षक के दूसरे अध्याय में, व्याख्यायित हुए हैं और इस लेख में वे पूर्वगृहीतवत् आये हैं। परिणामतः "कल्पना", "सृजन" और "सत्य" को जिस प्रकार प्रचलित अर्थों में उन्होंने लिया है वह मेरे अभिप्रेत अर्थों के अनुरूप नहीं हैं। तब भी, मुकुन्द जी ने मेरे विचार पर्याप्त सन्तोषजनक रूप से ही प्रस्तुत किये हैं और कुछ प्रसंगों पर, विशेषतः संगीत पर, अपने अत्यन्त मूल्यवान् और सुलझे हुए विचार प्रस्तुत किये हैं। यहां मैं अपनी उन प्रतिपत्तियों के स्पष्टीकरण में कुछ कहूंगा जिन पर मुकुन्द जी ने आक्षेप उठाये हैं।

समीक्षा के आरम्भ में ही मुकुन्द जी से एक बड़ी भूल हुई है, जो पता नहीं कैसे हुई! उनके अनुसार, मैं कला को भी ज्ञान की ही एक साधना मानता हूं। किन्तु मेरे लेख के पहले ही पृष्ठ पर यह वाक्य है: "विषयिता के विषयकरण के बिना, उसका उसके ही तत्त्व में विमर्श, उसके अपने हो तत्त्व में उसका अवगाहन, आत्मचेतन चेतना का यह एक दूसरा, और ज्ञानात्मक से भिन्न, आयाम है।" यहां इस सम्बन्ध में और स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है, तब भी इतना जोड़ना चाहूंगा कि मैं ज्ञान को इन्द्रियगम्य विषय अथवा वैज्ञानिक विधि तक सीमित नहीं मानता हूं, सदसद् और आत्मानात्म विवेक को भी ज्ञान ही मानता हूं और इस पर मैंने इस पुस्तक में आगे तीन अध्यायों में विचार किया है।

पृष्ठ 100 पर मुकुन्द जी ने आपत्ति की है कि "कला का सच्चा पुरुषार्थ अगर सत्य का अन्वेषण है तो इसमें कल्पना बाधक ही हो सकती है, साधक नहीं। सत्य का अर्थ कल्पित नहीं होता, वस्तु होता है।" अब, निश्चय ही "कल्पना" शब्द का प्रयोग साधारणतः अवास्तव के मनश्चक्षु के सम्मुख प्रस्तुत

हो जाने के अर्थ में ही होता है किन्तु प्रस्तुत वस्तु के गहनतर और व्यापकतर सत्य तक पहुंचने के लिए अथवा सत्य सामान्य तक पहुंचने के लिए उपपादित अर्थ के लिए भी होता है। उदाहरणतः यदि हम कहते हैं "कल्पना करें कि संसार में कारण-कार्य-नियम की जो व्यवस्था है वह या तो होती ही नहीं अथवा उससे बहुत भिन्न प्रकार की होती जैसी है....."आदि। अब, यह कल्पना वास्तव जगत् को असंख्य संभावनाओं में से एक की क्रियान्विति में रूपांतरित कर देती है और वास्तव जगत् के गहनतर अर्थों में प्रवेश दे देती है। वास्तव में कला ही नहीं, विज्ञान, शास्त्र और दर्शन भी इसी प्रकार की कल्पना से गुहागत अर्थों को देख पाते हैं। इसी प्रकार मुकुन्द जी "अनुकृति" शब्द के मेरे प्रयोग को लेकर कुछ भ्रम में पड़े हैं। वे लिखते हैं: "भावना के विवर्तन में आविर्भूत अर्थ का सही अनुकरण अगर कला है तो अनुकरण का अर्थ के अनुरूप होना सत्य होगा। माना कि यह सत्य कल्पना द्वारा अनुविद्ध है, इसमें अनेकान्त भी है, यह सर्वथा निर्भ्रान्त भी नहीं हो सकता, "अर्थ के अनुरूप है" यह निकष तो उस पर हावी होता ही है। अन्यथा सत्य की बात ही वृथा होगी।" (102) यह ठीक नहीं है। यहां "माना कि" के साथ जो कहा गया है वह मेरा मन्तव्य नहीं है। इसे एक उदाहरण से स्पष्ट करने का प्रयत्न करूंगा। चित्रकार किसी व्यक्ति का चित्र बनाता है। अब, इस चित्र का ही कलाकार द्वारा दृष्ट अर्थ का सही अनुकृति होना अपेक्षित नहीं होता, दृष्ट का भी सही अनुकृति होना, सही दृष्ट होना, अपेक्षित होता है। यह दृष्ट कैसे सही होगा? कलाकार द्वारा सम्मुख प्रस्तुत व्यक्ति के अन्तस् में प्रवेश के द्वारा। किन्तु द्रष्टव्य है कि यह अन्तस् कोई भूत वस्तु नहीं होता, न इसकी गंभीरता और विस्तार की ही कोई सीमा होती है, किन्तु तब भी यह ऐसा होता है जो अपने प्रत्यक्षीकरण के प्रयत्नों को सत्यापित या असत्यापित, न्यून या अधिक सत्यापित करता है। एक दूसरा उदाहरण लें: "उपन्यासकार जिन पात्रों और घटनाओं आदि का "वर्णन-निरूपण" करता है वे "कल्पित" होती हैं, किंतु उसका निरूप्य व्यक्ति-मानव या समाज-मानव का सत्यासत्य होता है। यह सत्यासत्य लोक में असंख्य वास्तव व्यक्तियों और अन्तर-बाह्य घटनाओं के माध्यम से घटित होता है किन्तु प्रायः ही यह उन व्यक्तियों को भी विदित नहीं होता, उन आन्तर-बाह्य घटनाओं के अर्थ तो उन व्यक्तियों को प्रायः कभी भी विदित नहीं होते, इस प्रकार वास्तव लोक में वे भी घटित नहीं होते, किन्तु वे तब भी होते हैं और उनका अवलोकन ही दृष्टि को सत्य बनाता है – जो भी दृष्टि यह अवलोकन कर सके। वह दृष्टि चाहे इन घटनाओं में भाग लेने वाले व्यक्तियों में से किसी की हो और चाहे उनमें भाग नहीं लेने वाले कलाकार की।

अब विषयिता के सम्बन्ध में : इन व्यक्तियों, घटनाओं और इन आन्तर-बाह्य घटनाओं का सत्य इतिहास-लेखक का विषय भी हो सकता है, वह भी कल्पना का सहारा लेता है—घटनाओं और उन्हें घटित करने वाले व्यक्तियों के चयन और उनके व्यवस्थापन के रूप में और इन घटनाओं को घटित करने वाले प्रयोजनों तथा प्रवृत्तियों के रूप में, और इन घटनाओं में घटित और अन्तर्निहित अर्थों के साक्षात्कार के रूप में। किन्तु उसकी यह कल्पना विषयात्मक होगी और उसके द्वारा साक्षात्कृत अर्थ विषयतया अवलोकित होंगे। इसके विपरीत उपन्यासकार की कल्पना विषयि-आत्मक होगी और उसके द्वारा साक्षात्कृत अर्थ विषयितया अवकोकित होंगे। उदाहरणतः इतिहासकार चन्द्रगुप्त मौर्य की विजय आदि का विवरण देने के लिए चन्द्रगुप्त, चाणक्य आदि को अन्य व्यक्तियों के रूप में देखे और प्रस्तुत करेगा और उपन्यासकार स्वयं चन्द्रगुप्त, चाणक्य आदि के कर्तृत्व, भोक्तृत्व से तदात्म होकर उनके द्वारा उन घटनाओं को घटित करेगा और उनमें घटित होगा और उनमें अन्तर्निहित अर्थों को भोगे और देखेगा। यहां मुकुन्द जी द्वारा मेरे नाम से प्रयुक्त पद "विषयी के सत्य" का अर्थ भी समझा जा सकता है। यह सत्य कलाकार की अपनी निजी अनुभूति का नहीं होता, न अन्य में आरोपित अपनी अनुभूति का होता है, बल्कि अनुभूति-सामान्य का, अथवा निरूप्य व्यक्ति अथवा व्यक्तियों की अनुभूति का होता है। उदाहरण के लिए पोर्ट्रेट में चित्रकार अपनी अनुभूति अथवा अपनी विषयिता चित्रित नहीं करता बल्कि चित्रणीय व्यक्ति की विषयिता को चित्रित करता है। चित्रकार का यह "साक्षात्कार" कोई असाधारण साक्षात्कार भी नहीं है : हम सम्मुख उपस्थित व्यक्ति को साधारणतः भी विषय के रूप में नहीं विषयी के रूप में ही देखते हैं। इसी प्रकार उपन्यासकार अपनी विषयिता का निरूपण नहीं करता बल्कि कल्पित पात्रों की विषयिता में अन्तःप्रविष्ट होकर उन विषयिताओं का निरूपण करता है।

इसके बाद मुकुन्द जी संगीत में सत् की अनुकृति, सत्यापन और सत्यान्वेषण के प्रसंग पर आते हैं। वे कहते हैं : "कला में होने वाले आन्तर व्यापार का जो तत्त्व-दृष्टि से उन्होंने प्रत्यय-चित्र बनाया है वह उन्हें एक ओर ले जाता है, पर जिन उदाहरणों पर उनके ऊह का आधार टिका है वे बात को दूसरी ही दिशा में खींचते हैं। उनकी तत्त्व-दृष्टि संगीत, नृत्य, वास्तु जैसी कलाओं के उपयुक्त लगती है। यह सारा व्यापार विषय से अछूता-सा लगता है।" (102) थोड़ा आगे जाकर वे कहते हैं........पर संगीत जैसी कला में "किस वृत्ति का अनुकरण हो रहा है इसकी पहचान कैसे हो, उपयुक्तता की बात तो दूर ? प्रेम, निराशा जैसी वृत्तियों की पहचान हमें विषय के माध्यम से होती है। हमें लोक में, विषय-जगत् में, इनका अनुभव होता है, वहीं इनकी पहचान होती है।............इन

वृत्तियों की पहचान उन्हीं कलाओं में बनी रहती है जिनमें विषयी के साथ-साथ विषय की भी उपस्थितियां होती हैं, अभिव्यक्ति जहां लोकस्पर्शी होती है। लेकिन संगीत में–या नृत्त या वास्तु में–किसी नियत भावित अर्थ का अनुकरण भी हो रहा है या नहीं, इसकी पहचान कैसे हो ?" (103)

मुकुन्द जी यहां वृत्तियों की जो विषय-सम्बद्धता की बात कर रहे हैं वह वास्तव में उनकी नाम-सम्बद्धता होती है, विषय-सम्बद्धता नहीं। नाम तब विषय-सम्बद्ध भी हो सकता है और विषयि-सम्बद्ध भी। किन्तु द्रष्टव्य है कि विषय-सम्बद्ध होने पर ही इन वृत्तियों के नामकरण का व्यापार उपयुक्त रूप से चरितार्थ हो पाता है, विषयि-सम्बद्ध होने पर यह प्रायः व्यर्थ जैसा हो जाता है। उदाहरणतः यह केवल विषय-सम्बद्ध रूप में ही हम कह सकते हैं कि राम सीता और लक्ष्मण को प्रेम करते थे और द्रौपदी अर्जुन को प्रेम करती थी और कृष्ण राधा को प्रेम करते थे। कवि के लिए यह सब किसी उपयोग का नहीं है, उसमें प्रत्येक व्यक्ति अन्य प्रत्येक व्यक्ति के साथ सर्वथा भिन्न प्रकार की मनःस्थिति में होता है और भिन्न प्रकार से प्रवृत्त होता है। संगीत आदि की काव्य आदि से भिन्नता इस बात में होती है कि इनमें निरूपित भाव सदैव नाम-सहित नहीं होता। किन्तु कई बार होता भी है। तो भी, नाम नहीं होने से उनकी भावपरता व्याहत नहीं होती, न भाव की पहचान व्यावहत होती है। नाम वास्तव में भाषा का अंग है और भाषा अभिव्यक्ति का एक माध्यम। अभिव्यक्ति का अन्य कोई भी माध्यम नाम का प्रयोग नहीं करता, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह किसी भाव अथवा बोध से सम्बद्ध नहीं होता। चित्रकार ही जो चित्रित करता है यदि वह भाषा-वाच्य हो तो चित्र की आवश्यकता ही क्या होगी ? भाषा उसे कहीं अधिक प्रभावशाली रूप में व्यक्त करेगी। अब इस विवेचन के प्रकाश में संगीत पर विचार करें : मानलें कि हम भारतीय शास्त्रीय संगीत के दो शुद्ध गायकों को सुनते हैं। दोनों ही बहुत कुशल हैं, बहुत पारंगत। किन्तु इनमें एक में दरबारीपन महफिलीपनः अधिक है और दूसरे में तन्मयता है। यह भेद कैसा है ? एक दूसरा उदाहरण लें : हम दुःखी या खिन्न हैं। इस मनःस्थिति के सम्बन्ध में भी यह प्रश्न प्रासंगिक होता है कि यह भाव वास्तव है या आरोपित ? भाव की इस वास्तवता और आरोपितता का क्या अर्थ है ? भाव की वास्तवता चित्त की सहज स्थिति है। सहज, अर्थात् चित्त की अपने से अनुरूपता, अभिव्यक्ति का अभिव्यंग्य से साम्य। जब यह नहीं होता तब चित्त का भाव अवास्तव, असहज और आरोपित कहा जाता है। गायक के दरबारीपन और तन्मयता में भी कुछ ऐसा ही भेद होता है। यहां यह और द्रष्टव्य है कि कला का अभिव्यंग्य केवल भावना ही नहीं होती, दृष्टि और बोध भी हो सकता है, यद्यपि दृष्टि और

बोध भावना से और भावना दृष्टि तथा बोध से नितान्त रहित नहीं होते। अब, अभिव्यंग्य दृष्टि हो या भावना, कला में दोनों की विषयिता ही ग्राह्य होती है। अपने मूल लेख में हमने अज्ञेय जी की कविता "महीवाल से" का जो उदाहरण दिया है उसे बोध की विषयिता की अभिव्यक्ति ही कहा जा सकता है, जिस बोध में जगद्गति के प्रति खिन्नता का भाव भी अन्तर्व्याप्त है। महान् कलाकारों की कृतियां भावना से अधिक बोध की ही अभिव्यक्ति होती हैं और इसमें संगीत को भी अपवाद नहीं होना चाहिए। इस शताब्दी के चौथे दशक की सर्वाधिक विश्वप्रसिद्ध नर्तकी आइसा डोरा डंकन ने अपनी आत्मकथा में अनेक अलौकिक अनुभूतियों और आभासों का उल्लेख किया है जो उसके नृत्यों की अपूर्व अभिव्यक्तियों में प्रतिफलित होते थे, और जहां तक मुझे याद पड़ता है, उसने यह भी लिखा है कि उसे कई नृत्यों की प्रेरणा कांट की **क्रिटीक ऑफ प्योर रीज़न** पुस्तक पढ़ते हुए मिली। यहां प्रश्न हो सकता है कि यह संगीत में कैसे संभव हो सकता है? इसमें अभिव्यक्ति के रूपों और माध्यमों की बात प्रासंगिक होगी। माध्यम-भेद अधिकांश में अभिव्यंग्य-भेद के कारण ही उत्पन्न होता है यद्यपि एक ही अभिव्यंग्य भी विभिन्न माध्यमों का विषय हो सकता है। उदाहरण के लिए एक ही क्रोध देह में मुखमुद्रा के विचार आदि के रूप में, हृदय में आवेगों के रूप में और बुद्धि में प्रतिशोध के उपाय आदि की चिन्ता के रूप में अभिव्यक्त होता है। यही बात बहुत कुछ काव्य, संगीत और चित्र आदि कलाओं में भी हो सकती है। काव्य में अभिव्यक्त भाव के अभिव्यंजक चित्र बनाये ही जाते हैं, इसी प्रकार रागों के अनुकारी चित्र भी बनाये जाते हैं, और काव्य छंद का प्रायः सदा ही सहारा लेता है और बहुत बार संगीत काव्य का सहारा लेता है। यह सहारा दोनों में अभिव्यंग्य एकता से ही संभव होता है। कोई स्वर-रचना गाये गये गीत के भाव के अनुकूल है या नहीं, यह प्रश्न सदैव प्रासंगिक होता है। किन्तु अभिव्यंग्य की यह अनुरूपता होने पर भी यह सही है कि प्रत्येक कला-रूप के अभिव्यंग्य में भी अपना एक वैशिष्ट्य रहता है। संगीत का अभिव्यंग्य काव्य और चित्र से भिन्न प्राण और हृदय के स्पन्दन का छन्द होता है। प्राण और हृदय की यह विषयिता संगीत में विषयि-प्रत्यय के रूप में उद्गृहीत होकर विमृष्ट होती है। अब, यह विमर्श प्रत्यय के और प्रत्यय मूल छन्द के प्रति असत्य अथवा न्यून सत्य भी हो सकता है, पीछे उदाहृत गायन के दरबारीपन में यह असत्य या सत्य की न्यूनता ही विवक्षित है।

मुकुन्द जी की समीक्षा में और भी बहुत सी बातें हैं जिन पर चर्चा हो सकती है। वास्तव में उन्होंने अपनी समीक्षा में कुछ स्वतंत्र बातें भी कही हैं जो विचारोत्तेजक और महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु मैं समझता हूं कि इस स्पष्टीकरण में

सार रूप में वे सब बातें आ जाती हैं।

सरला जी ने अपनी टिप्पणी में बहुत से प्रश्न उठाये हैं जो निश्चय ही महत्त्व पूर्ण और पैने हैं। ऐसे प्रश्न उठाने के लिए मैं उन्हें बधाई देना चाहता हूं। किन्तु इनमें से कुछ प्रश्न ऐसे हैं जो मेरे लेख का उद्देश्य कलाविषयक समग्र विचार मान कर उठाये गए हैं, जो कि इसका उद्देश्य नहीं है। यह लेख तथा इस अंक में प्रकाशित दूसरा लेख **मूल्यतत्त्वमीमांसा** पुस्तक के अध्याय हैं और इस प्रकार कला का अन्वेष्य-मूल्य क्या है यही इन अध्यायों का विवेच्य विषय है। परिणामतः सरला जी द्वारा उठाये गए इस वर्ग के प्रश्नों के सम्बन्ध में मैं कुछ नहीं कहूंगा। प्रासंगिक प्रश्नों में से कुछ प्रश्न ऐसे हैं जिनके उत्तर मुकुन्द जी की टिप्पणियों के उत्तरों में आ गए हैं। शेष के उत्तर मैं यहां देने का प्रयत्न करूंगा। उससे पूर्व मैं यह भी कहना चाहूंगा कि उनके द्वारा मेरे विचार का प्रस्तुतीकरण सर्वथा निर्दोष हुआ है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अनुच्छेद सं. 4 विशेष रूप से उसके अनुसार नहीं है।

उनका पहला प्रश्न (अनुच्छेद 7 में) यह है कि "कला में असत्य क्या होगा ?" इसका उत्तर ऊपर मुकुन्द जी की टिप्पणियों पर विचार के प्रसंग में दे दिया गया है। 8वें अनुच्छेद में सरला जी ने प्रश्न उठाया है कि "व्यंजना एक तरह का रूपांतरण है, और यह भी ठीक है कि कई व्यंजनाएं संभव हो सकती हैं। पर क्या सभी व्यंजनाएं समान रूप से मूल्यवान् होती हैं ?" इसका उत्तर है कि व्यंजना एक अभिव्यक्ति-प्रकार है जिस प्रकार अभिधा भी है। अब, किसी भी अभिव्यंग्य की अभिव्यक्ति अनेक प्रकार से हो सकती है। वे विभिन्न अभिव्यक्तियां समान रूप से सफल होती हैं ऐसा तो कोई भी नहीं कहता! प्रसंगान्तर से इस प्रश्न पर भी ऊपर विचार हुआ है। यहीं आगे वे कहती हैं "यदि प्रत्येक कलाकार अपने भाव-बोध के व्यंजनात्मक अर्थ को व्यक्त कर रहा है और इस प्रकार प्रत्येक विषयी अपने विशिष्ट सत्य को ही व्यक्त कर रहा है तो किसी अभिव्यक्ति की "कलात्मकता" भाव-बोध की सत्यता पर तो निर्भर नहीं करती।" लगता है कि इस प्रश्न का आरंभ दूसरे अभिप्राय से हुआ किन्तु अन्त दूसरे अभिप्राय से। आरम्भ में अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि जब प्रत्येक कलाकार का भाव-बोध और उसका सत्य विशिष्ट है तो उन सत्यों की युक्तता समान नहीं हो सकती। दूसरे, विभिन्न कला-कृतियों की कलात्मक सफलता की कसौटी सत्य नहीं हो सकता।" सर्वप्रथम, यह प्रश्न केवल कला के सम्बन्ध में ही क्यों, अभिव्यक्ति-मात्र के सम्बन्ध में ही समान रूप से उठता है, और अभिव्यक्ति केवल भाषा, चित्र आदि के रूप में ही नहीं होती, स्वयं भाव और विचार आदि भी अभिव्य-

क्तियां ही हैं। ये अभिव्यक्तियां अभिव्यंजित चित् के प्रति समान रूप से सत्य नहीं होतीं, इस पर हमने ऊपर मुकुन्द जी की टिप्पणियों के उत्तरों के प्रसंग में स्पष्ट किया है। अब, "कृतियों की कलात्मकता" का अर्थ "शिल्प" लिया जा रहा है, इस प्रकार यह प्रश्न सही नहीं कहा जा सकता। मैंने एक दूसरे लेख "कला-तत्त्व" [1] में केशव की **रामचन्द्रिका** और तुलसीदास के **रामचरित मानस** में तुलना के द्वारा इस तथा-कथित कलात्मकता का दैन्य दिखाया है। ऊपर भी "दो समान रूप से कुशल गायकों में "दरबारीपन" और "तन्मयता" के भेद द्वारा इस ओर संकेत किया है।

आगे अनुच्छेद 9 में सरला जी ने मेरे "अनुकरण" के विचार पर प्रश्न उठाया है। इस प्रश्न से स्पष्ट है कि उन्हें मेरे विचार का संप्रेषण ठीक से नहीं हो पाया है। यों इसे मैंने पर्याप्त स्पष्ट रूप में लेख में प्रस्तुत किया है किन्तु ऊपर इसे पुनः स्पष्ट किया गया है। प्रत्येक भाव या विचार अपने बोध में एक अभिव्यक्ति होता है जो अभिव्यक्ति अभिव्यक्त होने वाले चित्र के प्रति कम या अधिक न्यून होती है। पुनः, यह भाव या विचार भाषा, स्वर, रेखा आदि में अभिव्यक्त होता है और यह अभिव्यक्ति उस भाव या विचार के प्रति कम या अधिक न्यून रूप से सम्यक् होती है। अब, ये अभिव्यक्तियां अपने अभिव्यंग्य से विच्छिन्न सत्ताएं नहीं होतीं, ये क्रमिक तारतम्य में ही होती हैं। चित्र भाव या विचार में ही आकार पाता है और भाव या विचार शब्द या स्वर आदि में ही स्फुट होता है, किन्तु इस क्रम में अनन्तरवर्ती चरण प्रथम से सम्यक्, न्यून सम्यक् या असम्यक् होता है। कई बार हम किसी विचार के लिए उपयुक्त शब्द के लिए, और स्वयं विचार में सत्य से सम्यक्ता के लिए व्याकुल होते हैं।

अन्तिम अनुच्छेद में सरला जी ने साहित्य और दर्शन द्वारा सत् के निरूपणों में भेद की बात की है और कहा है कि साहित्य में, दर्शन से भिन्न, सत् के दो विरोधी बोध भी सत्य हो सकते हैं। इस पर से वे यह निष्कर्ष निकालती हैं कि "इन दोनों भाव-बोधों को समान मानते हुए भी हम इनमें फ़र्क करते हैं। यह फ़र्क जिस लक्षण के आधार पर होता है वह सौन्दर्य-बोध के परिष्कार के आधार पर होता है।" सरला जी की यह सारी बात हमारी समझ में नहीं आयी। सर्वप्रथम, एक ही स्थिति के दो भिन्न ग्रहण साहित्य में ही क्यों

---

1. 'सत्ताविषयक' सन्वीक्षा, अध्याय 15, भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, नई दिल्ली, 1987.

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में भी हो सकते हैं : दृष्टिकोण आदि के भेद से दो प्रत्यक्ष अनिवार्यतः भिन्न होंगे और तब भी सत्य होंगे। दर्शन में वैसा नहीं होने का कारण उसके ग्रहण के दावे की सार्वभौमिकता होता है। अब, जहां तक साहित्य का प्रश्न है, उसमें दो ग्रहणों का सत् कभी एक होता ही नहीं, क्योंकि वह सत् विषयपरक नहीं होकर विषयिपरक होता है। ऐसा नहीं है कि विषयिमूलक दो ग्रहणों का सत् एक हो नहीं सकता। जैसाकि हमने लेख के आरंभ में ही कहा कला का विषय विषयिता-प्रत्यय होता है जो सामान्य होता है। किन्तु विषयपरक सत् और विषयिपरक सत् की एकता-अनेकता के रूप और प्रकार मौलिक रूप से भिन्न होते हैं : जिसका कारण यह होता है कि विषय **बाह्यतः कल्पित** होता है कि विषयी आन्तरतः भावित या साक्षात्कृत।

यशदेव शल्य

विषय-सूची

१. "एथिक्स और इकनौमिक्स : एक टिप्पणी — गोविन्दचन्द्र पांडे १

२. भारतीय आध्यात्मिक जड़वाद — नारायण शास्त्री द्राविड़ १३

३. कला का अन्वेषय–२ — यशदेव शल्य २५

४. क्या क्षत्रिय ही राजा हो ? (अनुवाद) — विजयपाल शास्त्री, मुकुन्द लाठ ४५

प्रतिक्रियाएं

१. प्रोफेसर दयाकृष्ण के लेख "श्रुति के दो परस्पर विरोधी परम्पराओं के प्रवर्त्तक जैमिनि और बादरायण" पर एक टिप्पणी — नारायण शास्त्री द्राविड़ ५६

उन्मीलन-गोष्ठी की कार्यवाही

१. कला का अन्वेष्य : कुछ समस्याएं — सरला कल्ला ७६

२. कला का अनवेष्य लेख की समीक्षा में डा. मुकुन्द लाठ तथा डा. सरला कल्ला द्वारा उठाये गये कुछ प्रश्नों पर विचार — यशदेव शल्य ७१-७८

दर्शन प्रतिष्ठान

पी-51, मधुवन पश्चिम, टोंक रोड, जयपुर-302015

यशदेव शल्य द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर के लिए पी-५१, मधुवन पश्चिम, टोंक रोड, जयपुर से प्रकाशित एवं जेक प्रिंटर्स, पी-47, मधुवन पश्चिम–II, किसान मार्ग, टोंक रोड, जयपुर से मुद्रित